सुखी होने का उपाय

भाग - 4

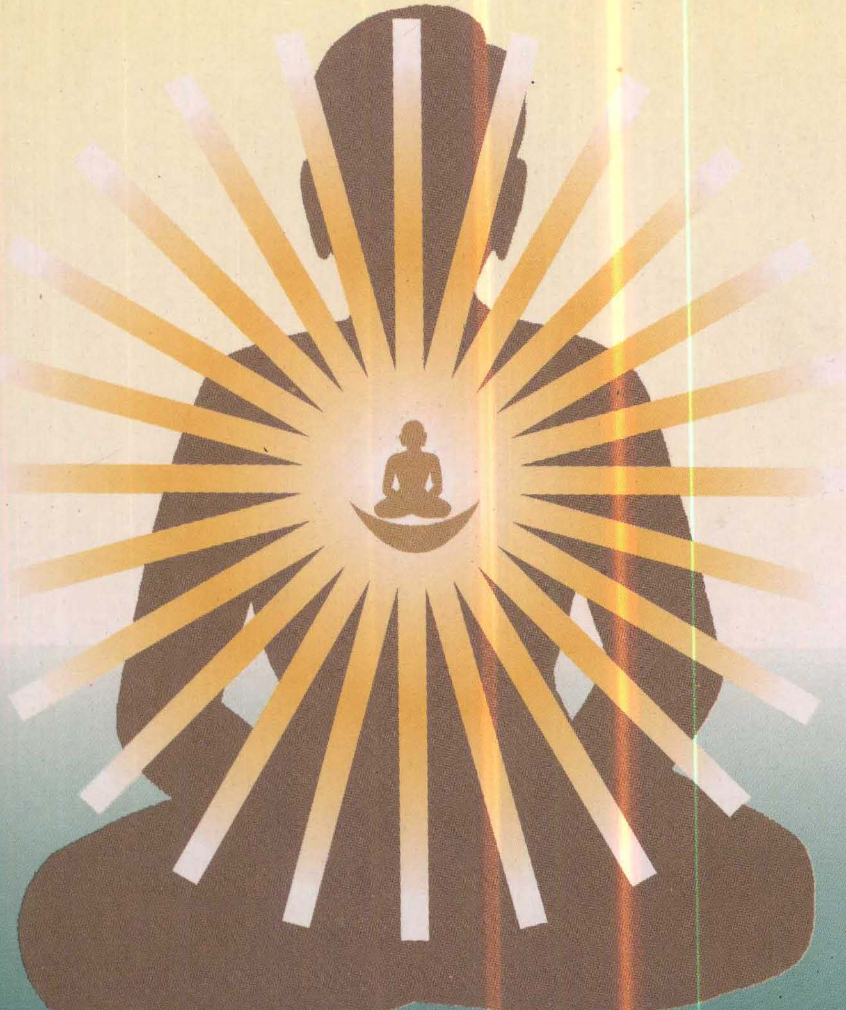

नेमीचन्द पाटनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखी होने का उपाय

भाग - ४

(यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण)

लेखक :

नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर- 302 015

फोन : 0141- 515581, 515458

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम संस्करण : 3000
(10 जून, 1997)
श्रुतपंचमी
द्वितीय संस्करण : 3000
(15 अगस्त, 1999)

योग : 6000

मूल्य : आठ रुपए

टाइपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
लालकोठी, जयपुर 302015
फोन : 722274, 721819

मुद्रक :
पार्वती प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
आदर्श नगर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
	विषय सूची	३
	दो शब्द	७
१.	अपनी बात	८
२.	सार संक्षेप	१२
३.	प्रारम्भिक	१९
	देशनालब्धि	
४.	सम्यक्त्वसन्मुख जीव की पात्रता	२१
५.	ज्ञानस्वभावी आत्मा को खोजने की पद्धति	२४
६.	आगम ज्ञान की महत्ता	२५
७.	क्रमशः दो पद्धतियों द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय	२७
८.	द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय	२९
९.	"उपयोगोलक्षणं"	३०
१०.	अपनी आत्मा को कहाँ खोजना चाहिये ?	३१
११.	अपने द्रव्य में भी स्वतत्त्व की खोज	३२
१२.	द्रव्य की परिभाषा	३४
१३.	तत्त्व की परिभाषा	३४
१४.	जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व का अन्तर समझना	३४
१५.	जीवतत्त्व को खोजने के लिये सात तत्त्वों की समझ आवश्यक	३८
१६.	सात तत्त्वों को यथार्थ समझने की विधि	३९
१७.	यथार्थ निर्णय करने में नयादि का ज्ञान आवश्यक क्यों ?	४०
१८.	प्रमाणनयैरधिगमः	४१
१९.	जीवतत्त्व का स्वरूप	४४
२०.	भेदज्ञान का आधार जीवतत्त्व	४८
२१.	चेतना जीवतत्त्व का यथार्थ लक्षण	५०
२२.	जीवतत्त्व से अतिरिक्त छहतत्त्वों के संबंध में	५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. अजीवतत्त्व ५७

भेदज्ञान

२४. भेदज्ञान का स्वरूप एवं अन्य द्रव्यों से भेदज्ञान ६३
२५. जीवद्रव्य का अपनी ही विकारी पर्यायों से भेदज्ञान ६६
२६. भेदज्ञान पद्धति के दो प्रकार ६८
२७. मैं ज्ञानस्वभावी हूँ ऐसे निर्णय की पूर्व भूमिका-पात्रता ७१
२८. आकर्षण का केन्द्रबिन्दु आत्मा ही कैसे हो ? ७४
२९. सुख का लक्षण निराकुलता ही क्यों ? ७५
३०. अनाकुलता कहाँ है ? ८१
३१. आत्मा सुखस्वभावी ही है ८२
३२. ज्ञान एवं सुख से परिपूर्ण आत्मा का स्वभाव अरहंत के समान ८६

ज्ञानस्वभाव

३३. ज्ञान स्वभाव क्या है ? ९१
३४. ज्ञानक्रिया का स्वभाव एवं कार्यपद्धति ९६
३५. ज्ञान का स्व प्रकाशकपना कैसे ? ९८
३६. आत्मा परज्ञेयों को कैसे जानता है ? १०४
३७. ज्ञान में स्व के माध्यम से ही पर का ज्ञान होता है ११०
३८. जाननक्रिया का स्वभाव ज्ञेय निरपेक्ष वर्तना ही है १११
३९. ज्ञेय को जानने वाला ज्ञान, ज्ञेय निरपेक्ष कैसे ? ११७
४०. निरपेक्ष ज्ञान भी राग का उत्पादक क्यों दिखता है ? ११७
४१. वास्तव में राग का उत्पादक कौन ? ११९
४२. अज्ञान राग का उत्पादक कैसे ? १२२
४३. सुख अथवा दुःख का उत्पादक ज्ञान नहीं १२३
४४. स्व को जानने में सुख एवं पर को जानने में दुःख क्यों ? १२५
४५. अरहंत भगवान सुखी कैसे हैं ? १२७
४६. चर्चा का सारांश १२९
४७. ज्ञातृतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा ही अज्ञान के अभाव का मुख्य उपाय है १३२
४८. ज्ञानतत्त्व तो अरहंत के समान १३३
४९. विकारी पर्यायों से भिन्नता करने का उपाय १३५
५०. दुःख की उत्पत्ति कैसे ? १३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञेयस्वभाव

५१.	ज्ञेय तो पर है, उनकी यथार्थ प्रतीति क्यों ?	१४०
५२.	ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप	१४१
५३.	अरहंत भगवान को परज्ञेयों का ज्ञान किसप्रकार वर्तता है ?	१४१
५४.	ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप क्या है ?	१४४
५५.	आत्मा ही ज्ञानतत्त्व के साथ ज्ञेयतत्त्व कैसे हो सकता है ?	१४५
५६.	ज्ञेयतत्त्व क्या है ?	१४६
५७.	आचार्य कुन्दकुन्द के तीन ग्रन्थों की कथन शैली	१५४
५८.	असमानजातीय द्रव्यपर्याय को मुख्य करने का कारण क्या ?	१६१
५९.	ज्ञानतत्त्व की भिन्नता के प्रकार	१६४
६०.	ज्ञान का अन्य द्रव्यों से क्या संबंध है ?	१६४
६१.	ज्ञाता ज्ञेय संबंध में भी राग की उत्पत्ति क्यों ?	१६६
६२.	ज्ञेय निरपेक्ष ज्ञान ही असीमित हो सकता है	१६८
६३.	पर्याय को जाने बिना पदार्थ का ज्ञान संभव कैसे होगा ?	१७०
६४.	पर्यायरहित द्रव्य ज्ञेय कैसे बनेगा ?	१७१
६५.	द्रव्यदृष्टिवंत का विषय अभेदपदार्थ एवं पर्यायदृष्टिवंत का विषय पर्याय होता है	१७३
६६.	स्वज्ञेय को कैसे जाना जावे ?	१७५
६७.	आत्मा स्व को ही जानता है लेकिन मानता नहीं	१७६
६८.	परलक्ष्यी ज्ञान ज्ञेय के साथ संबंध क्यों जोड़ता है ?	१८१
६९.	परलक्ष्यी ज्ञान से आत्मदर्शन असंभव क्यों ?	१८१
७०.	इन्द्रियज्ञान हेय क्यों ?	१८२
७१.	इन्द्रियज्ञान को स्वलक्ष्यी कैसे किया जावे ?	१८३
७२.	समापन	१८४

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. गुप्तदान हस्ते श्रीमती उर्मिलादेवी जैन, आगरा	2101 =00
2. श्रीमती बीना बरोल्या, आगरा	1001 =00
3. श्री बल्लूभाई सी शाह, देवलाली	1000 =00
4. श्री रतनलालजी पाटोदी, कलकत्ता	1000 =00
5. सौ. कंचनबेन ध. प. श्री पन्नालाल गड़ीयार, खैरागढ़	1000 =00
6. श्री मदनलालजी पाटनी, मुम्बई	1000 =00
7. श्री नगीनभाई भयाणी, कलकत्ता	500 =00
8. श्री माणकलालजी ठाकुरिया, उदयपुर	500 =00
9. श्री प्रदीपजी चौधरी, किशनगढ़	500 =00
10. श्री फूलचन्दजी विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन	301 =00
11. श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	251 =00
12. ब्र. श्री हीरालाल खुशालचन्दजी दोशी, माण्ड़वे	251 =00
13. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251 =00
14. श्री माँगीलालजी अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	251 =00
15. श्रीमती भँवरीबाई ध. प. श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	251 =00
16. श्री मोलड़मल शोसिंह राय जैन, अग्रवाल मण्डी	251 =00
17. अहिंसा चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई	251 =00
18. श्री शान्तिकुरु चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली	251 =00
19. श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	251 =00
20. श्री गोसरभाई, देवलाली	250 =00
21. श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	201 =00
22. श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत सिटी	201 =00
23. श्रीमती प्रेमवती जैन, खतौली	200 =00
24. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	151 =00
25. श्रीमती ताराबेन मैनाबेन, खेरागढ़	101 =00
26. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101 =00
22. गुप्तदान	101 =00
कुल योग	**12368 =00**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो शब्द

आदरणीय नेमीचन्दजी पाटनी द्वारा लिखित "सुखी होने का उपाय" भाग-४ आपके हाथों में है। इसके पूर्व सन् १९९० में भाग-१, १९९१ में भाग-२ तथा १९९२ में भाग-३ प्रकाशित किये गये थे। भाग-१ में वस्तुस्वभाव एवं विश्व व्यवस्था, भाग-२ में आत्मा की अन्तर्दशा एवं भेदविज्ञान तथा भाग-३ में आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है विषय पर विस्तार से चर्चा की गई है। अब भाग-४ में यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण विषय पर चर्चा की जा रही है। इसे समयसार गाथा १४४ के आधार पर लिखा गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि पाटनीजी ने आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का समागम पूरी श्रद्धा और लगन के साथ लगातार ४० वर्ष तक किया है। वे भाषा के पण्डित भले ही न हों, पर जैन तत्त्वज्ञान का मूल रहस्य उनकी पकड़ में पूरी तरह है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के काम में वे विगत पैंतीस वर्षों से नींव का पत्थर बनकर लगे हुये हैं; विगत २५ वर्षों से मेरा भी उनसे प्रतिदिन का घनिष्ठ सम्पर्क है। अत: उनकी अन्तर्भावना को मैं भली भाँति पहचानता हूँ।

अभिनन्दन पत्र भी न लेने की प्रतिज्ञाबद्ध श्री पाटनीजी ने यह कृति लेखक बनने की भावना से नहीं लिखी है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धि के लिये ही उनका यह प्रयास है; उनके इस प्रयास से समाज को सहज ही सम्यक् दिशाबोधक यह कृति प्राप्त हो गई है।

यह चारों भाग तो आपके समक्ष पहुँच ही चुके हैं, पाँचवां भाग भी यथाशीघ्र आपके हाथों में होगा। उनके भाव आप सब तक उनकी ही भाषा में हूबहू पहुँचें इस भावना से इनमें कुछ भी करना उचित नहीं समझा गया है। अत: विद्वज्जन भाषा पर ना जावें, अपितु उनके गहरे अनुभव का लाभ उठावें इसी अनुरोध के साथ —

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक 'सुखी होने का उपाय' भाग -४ है। इसके पूर्व ३ भाग प्रकाशित होकर पाठकगणों को उपलब्ध हो चुके हैं। मैंने उक्त सभी रचनाएँ मात्र स्वयं के कल्याण के लिए एवं अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से की हैं। जितनी गूढता पूर्वक चिन्तन किसी भी विषय पर लिखने की जिम्मेदारी के आधार पर होता है, उतना अन्य माध्यमों से नहीं हो पाता। मेरी आत्मा, विषय समझ में आ जाने पर भी उसको संकुचित करके अस्पष्ट छोड़ देने के लिए सहमत नहीं होती। तथा जितना भी विस्तारपूर्वक कथन किया जावेगा, मेरा उपयोग भी उतने काल तक जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों के चिन्तन-मनन में लगा रहेगा और यह मेरे जीवन की उपलब्धि होगी। इसलिए मैंने विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण करने का संकल्प कर लिया है। अत: यह विषय आगामी कितने भागों में पूर्ण होगा, यह अभी निर्णय नहीं हो सकेगा।

उपरोक्त सभी रचनाओं में पुनरावृत्ति हुई है, क्योंकि ये रचनाएँ अलग-अलग समयों पर जब भी उपयोग खाली हुआ टुकड़ों-टुकड़ों में की गईं हैं, लगातार नहीं। मुझे भाषा एवं व्याकरण का ज्ञान अधिक नहीं होने से वाक्य-विन्यास तथा वाक्यों का जोड़-तोड भी सही नहीं हैं। अत: उपरोक्त सभी पुस्तकों में पाठकगणों को इसप्रकार की कमी अनुभव होगी, सम्भव है पढ़ने में रुचिकर भी नहीं लगे, इसके लिए पाठकगण क्षमा करें। कृपया इन कमियों को गौण करके विषय के भाव को ग्रहण करने की चेष्टा करें — यही मेरी नम्र प्रार्थना है। अध्यात्म के कथन तो भावना दृढ़ करने के लिए होते हैं, अत: उसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं मानना चाहिए।

पूर्व संकल्पानुसार चतुर्थ भाग का निर्णीत विषय था "यथार्थ निर्णय द्वारा सविकल्प आत्मज्ञान" लेकिन इस विषय में प्रवेश करने पर ऐसा लगा कि अभी तो यथार्थ निर्णय का विषय ही स्पष्ट नहीं हो पा रहा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसके अभाव में सविकल्प आत्मज्ञान के विषय को, स्पर्श करना भी सम्भव नहीं हो सकता। अतः इस चतुर्थ भाग में यथार्थ निर्णय के प्रथम चरणरूप ज्ञानतत्त्व को ज्ञेयतत्त्व से विभागीकरण की विधि समझकर, उससे उत्पन्न भेदज्ञान के आधार पर, अपने ज्ञातास्वरूप को यथार्थ पहिचान करके, ज्ञातृतत्त्व में अहंपना स्थापित कर, ज्ञेयमात्र के प्रति परपने की श्रद्धा जागृत हो - मात्र इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस पुस्तक में चर्चा आ सकी है।

समयसार गाथा १४४ की टीका के प्रथम चरण — "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके" की पूर्ति करने हेतु इस पुस्तक में चर्चा की गई है। आत्मा अपने ज्ञान-स्वभाव को भूलकर, ज्ञान में ज्ञात ज्ञेयों में एकत्वबुद्धि कर, ज्ञेय-ज्ञायक का संकरदोष उत्पन्न करता है, इन विषयों पर इस पुस्तक में चर्चा की गई है। सर्वप्रथम इन भूलों का अभाव करना अत्यन्त आवश्यक है।

आगामी भाग ५ में भी उपरोक्त टीका के प्रथम चरण के अन्तर्गत ही, आत्मा के विकारी भावों में एकत्वरूपी दोष के अभाव करने के उपायों पर चर्चा करनी है। आत्मा को जब तक यह श्रद्धा जागृत नहीं होती कि "मेरे में रागादि उत्पन्न होते हुए भी मैं तो उन परिणमनों के काल में भी, विकार को जानने वाली क्रिया का कर्ता था, विकार को करने वाला तो मैं था नहीं; इसलिये मैं तो एकमात्र ज्ञानस्वभावी अर्थात् अकर्ता स्वभावी हूँ, ज्ञानस्वभाव को भूलकर मेरे द्वारा ही मुझे अन्यस्वभावी जाना-माना जाता रहा है, तो भी मैं तो मात्र ज्ञानस्वभावी ही रहा हूँ, किसी अन्यस्वभावी हुआ ही नहीं।" अज्ञानी अपनी ही अनित्यस्वभावी क्षण-क्षण में बदलती हुई पर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि कर, अकर्ता ज्ञानस्वभाव को भूलकर, उनमें कर्तृत्वबुद्धि करके मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

इसप्रकार की भूलों में प्रथम भूल ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष के अभाव करने की चर्चा तो इस पुस्तक में कर ही रहे हैं तथा अपनी ही पर्यायों में उत्पन्न होने वाले विकारी भावों के कर्तापने के अभाव करने की चर्चा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगामी भागों में करेंगे। तत्पश्चात् सविकल्प आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय के संबंध में चर्चा करेंगे।

अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन पुस्तिकाओं में बताया हुआ मार्ग ही संसार में भटकते प्राणियों को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त करने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादिकाल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिए दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सभी अपने चिन्तन को ही सच्चा मार्ग कहते थे; लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शान्ति प्राप्त करने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ, न जाने कहाँ-कहाँ भटकते हुए सन् १९४३ में प्रातः स्मरणीय महान उपकारी गुरुदेव पूज्यश्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हो गया; कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी पूर्ण निःशंकता प्राप्त नहीं हुई, तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सभी तरह से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा को शान्ति प्राप्त करने का यदि कोई मार्ग हो सकता है तो मात्र एक यही मार्ग हो सकता है, अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है — ऐसे विश्वास के साथ पूर्ण समर्पणतापूर्वक उनके सत्समागम का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा। फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ, वह सबका सब अकेले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का ही है।

वे तो सद्ज्ञान के भण्डार थे, आत्मानुभवी महापुरुष थे। उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन, गम्भीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृततुल्य होता था, उसमें से अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो, तो वह सब दोष मेरी बुद्धि का ही है और जो कुछ भी यथार्थ है, वह सब पूज्य स्वामीजी की ही देन है। उनकी उपस्थिति में भी एवं स्वर्गवास के पश्चात् भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता रहा हूँ, उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था, उससे भी मेरी श्रद्धा उनके प्रति और भी दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिए दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा ही प्राप्त हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है अन्यथा मोक्षमार्ग के लिए हम तो बिल्कुल अंधे थे। अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है, जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या? भविष्य के भवों में भी नहीं भूल सकेगा।

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ, उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह प्रयास है। मेरी उम्र ८१ वर्ष की है और इस कृति का जो भाग शेष है वह भी मेरे इस जीवनकाल में सम्पूर्ण तैयार हो और प्रकाशित होकर आत्मार्थी बन्धुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का सुगमता से मार्ग प्राप्त करावे — यही एक भावना है।

यह भाग संशोधित और परिवर्धित संस्करण मात्र ही नहीं है अपितु प्रकाशन के पूर्व इसमें बहुत कुछ परिवर्तन किया गया है। मैंने आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल से निवेदन किया कि वे इस पुस्तक को एक बार आद्योपान्त पढ़कर आगम के आलोक में पुस्तक में यदि कोई विसंगति अथवा भूल हो तो मुझे संकेत करें ताकि इसका प्रकाशन विशेष प्रामाणिक रूप में हो सके। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि उन्होंने मेरा निवेदन स्वीकार किया और अत्यन्त व्यस्त समय में से समय निकालकर इसको संशोधित करने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया। इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बनें तथा मेरा उपयोग जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जिनवाणी की शरण में ही बना रहे एवं उपर्युक्त यथार्थ मार्ग मेरे आत्मा में सदा जयवन्त रहे — इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचन्द पाटनी

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार संक्षेप
(तीनों भागों का)

प्रस्तुत पुस्तक के विगत तीनों भागों के अध्ययन द्वारा, आप अनेक विषयों के स्पष्टीकरण तो प्राप्त कर ही चुके हैं। उन समस्त विषयों को स्मृति में ताजा करने के लिए उसका सार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

आत्मार्थी जीव के लिए सर्वोच्च प्राथमिकता यह है कि उसको आत्मकल्याण करने की जिज्ञासा तीव्रता से जागृत हुई हो। उग्र पिपासा जागृत हुए बिना कितना भी मिष्ट सुगंधित पेय प्रस्तुत किया जावे, तो भी उसको रुचिकर नहीं लगता। इसीप्रकार तीव्र जिज्ञासा प्रकट हुए बिना सरलतम तत्त्वोपदेश भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। पात्रता प्रगट होने पर ही सम्यक्त्वसन्मुख ज़ीव को ऐसा विचार आता है कि "अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय रहा; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है। यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझ लेना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है — ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया (उद्यम करता है)।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५७)

जिस आत्मार्थी जीव के हृदय में इसप्रकार की तीव्रतम जिज्ञासा जागृत हुई है, वही जीव "सुखी होने के उपाय" की खोज करेगा, पढ़ेगा तथा सुनेगा। अतः आत्मार्थी जीव की उपरोक्त जिज्ञासा ही प्राथमिक अन्तर्दशा है। ऐसा जीव ही प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन द्वारा यथार्थ मार्ग ग्रहण कर अपना कल्याण करेगा — ऐसा विश्वास है।

इस पुस्तकमाला के प्रथम भाग में अनन्तानन्त द्रव्यों की भीड़-भाड़ में खोई हुई हमारी स्वयं की आत्मा की, अनेक उपायों द्वारा भिन्नता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहिचानकर ; अन्य पदार्थों के साथ अपनी कल्पना से माने हुए सम्बन्धों को तोड़कर, अपनी, अन्य सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकारते हुए, अपने-आप में निम्नप्रकार की श्रद्धा जागृत करने का उपाय बताया गया है।

"जगत के सभी द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत् हैं" उन्हीं में मैं भी स्वयं एक सत् हूं। मेरी सत्ता मेरे स्वचतुष्टय में है अन्य की सत्ता उनके स्वचतुष्टय में है। अत: मेरी सत्ता में किसी का प्रवेश-हस्तक्षेप है ही नहीं एवं हो भी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में जगत के किसी भी द्रव्य के कार्यों में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करने का अधिकार मुझे भी नहीं हो सकता। इसप्रकार जगत के सभी द्रव्यों के परिणमनों से मेरा सम्बन्ध नहीं होने के कारण, वे मेरे लिए उपेक्षणीय एवं ज्ञेयमात्र हैं। अत: वे मेरे लिए किसी प्रकार की आकुलता उत्पन्न करने के कारण भी नहीं रहते। मेरी आत्मा का भला अथवा बुरा अर्थात् हानि अथवा लाभ पहुँचाने वाला एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ, उसीप्रकार मेरा सुधार भी मैं स्वयं ही कर सकता हूँ। अत: मेरे कल्याण के लिए मुझे मेरे में ही अनुसंधान करके यथार्थ मार्ग खोजना पड़ेगा एवं अपने में ही प्रगति करनी पड़ेगी।

उपर्युक्त श्रद्धा जागृत कर लेने पर आत्मार्थी अपने आत्मद्रव्य में ही यथार्थ मार्ग खोजना प्रारम्भ करता है। अत: इस पुस्तक के भाग २ में "आत्मा की अन्तर्दशा, तत्त्वनिर्णय एवं भेदविज्ञान" इस शीर्षक के अन्तर्गत आत्मा में अनुसंधान करने का उपाय बताया गया है।

मोक्षमार्ग में पाँच लब्धियों की जानकारी की उपयोगिता, चारों अनुयोगों के अर्थ समझने की पद्धति, यथार्थ तत्त्वनिर्णय का महत्व आदि विषयों द्वारा तत्त्वनिर्णय की आवश्यकता उक्त पुस्तक में सिद्ध की है। सात तत्त्वों के स्वरूप का यथार्थ मर्म समझकर, उनमें एकमात्र त्रिकाली पारिणामिकभावरूप ध्रुवतत्त्व तो मैं जीवतत्त्व हूँ, अन्य जितने भी पदार्थ हैं वे सब मेरे लिए परज्ञेयरूप अजीवतत्त्व हैं, मेरी ही पर्याय में उत्पन्न होने वाले आस्रव एवं बंध भाव हेय तत्त्व हैं, संवर-निर्जरा के भाव उपादेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व हैं तथा मोक्ष तो परम-उपादेय तत्त्व है। इस निरूपण के माध्यम से अपनी ही पर्यायों में छुपी आत्मज्योति को भिन्न करके समझने का मार्ग बताया गया है। जगत के समस्त पदार्थों को तथा मेरे अन्दर होने वाली अपनी ही पर्यायों को ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के यथार्थ ज्ञान द्वारा भेदज्ञान कराकर स्थायी ध्रुवभाव में अहंपना स्थापित कराने का प्रयास किया गया है। साथ ही निश्चय के साथ यथार्थ व्यवहार रहता ही है, मोक्षमार्ग में दोनों की अनिवार्यता एवं विरोधीपना किसप्रकार है इत्यादि अनेक विषयों का ज्ञान कराकर, अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहंबुद्धि जागृत हो — इस पर विस्तार से चर्चा की गई है।

उसके माध्यम से आत्मा जब अपनी अन्तर्दशा का अनुसंधान करता है, तो वहाँ उसको एक ओर तो त्रिकाली-स्थायीभाव — ऐसा ध्रुवभाव दिखाई देता है और दूसरी ओर क्षण-क्षण में बदलता हुआ परिवर्तनशील-अस्थायीभाव— ऐसा पर्यायांश दिखाई देता है। आचार्यों ने द्रव्य अर्थात् सत् की परिभाषा भी "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" बताई है। उक्त सत्रूपी द्रव्य में हेय, उपादेय एवं श्रद्धेय की खोज करने के लिए सात तत्त्व के माध्यम से सत् की यथार्थ स्थिति इस पुस्तक के द्वारा समझाई है।

उन सात तत्त्वों में जीव तत्त्व तो ध्रुव है, वह अहं के रूप में श्रद्धेय तत्त्व है, अजीव तत्त्व तो मात्र उपेक्षणीय-परज्ञेयतत्त्व हैं। आस्रव-बंध पर्याय हैं एवं हेयतत्त्व हैं, संवर-निर्जरा पर्याय उपादेय तत्त्व हैं, मोक्षतत्त्व तो परम उपादेय तत्त्व है ही; आस्रव बंध के ही विशेष भेद पुण्य व पाप मिलाकर नवतत्त्व भी कह दिए जाते हैं। पुण्य-पाप भी आस्रव बंध के ही भेद होने से हेय तत्त्व ही हैं।

इसप्रकार अपनी आत्मा की अन्तर्दशा को समझकर ध्रुव रूप स्व-आत्मतत्त्व में अहंपना स्थापित करने की मुख्यता से भेद-ज्ञान एवं भलीप्रकार अनुसंधानपूर्वक उपर्युक्त समस्त स्थिति को समझकर स्व को स्व के रूप में एवं पर को पर के रूप में मानते हुए, हेय को त्यागने योग्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपादेय को ग्रहण करने योग्य स्वीकार करते हुए यथार्थ मार्ग खोज निकालने का उपाय भाग २ के माध्यम से समझाया गया है।

उपर्युक्त पुस्तक के भाग ३ के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने का अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ एकमात्र यथार्थ निर्णय ही है। पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्ट कहा है कि "मोक्षार्थी का कर्तव्य तो एकमात्र तत्त्व निर्णय का अभ्यास ही है" करणलब्धि प्राप्त जीव का पुरुषार्थ भी यही है कि "वह उस तत्त्व निर्णय में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उसके फलस्वरूप उसको आत्मानुभूति प्राप्त होगी।" — ऐसा स्पष्ट कथन, मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए यथार्थ निर्णय की महत्ता एवं सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता सिद्ध करता है। यथार्थ निर्णय में ही ऐसा सामर्थ्य है कि उसके फलस्वरूप श्रद्धा में यथार्थता प्रगट हो सकती है। अत: जैसे भी बने वैसे आत्मार्थी को अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय कर, उसमें ही "यह मैं हूँ" ऐसा दृढतम विश्वास जाग्रत करना चाहिए। "**अयिकथमपिमृत्वा तत्त्व कोतूहलीसन्** — अर्थात् किसी भी प्रकार, मरकर भी एक बार तत्त्व को पहिचानने का कोतूहली तो बन" इत्यादि कथनों से इस ही विषय की पुष्टि होती है। ऐसा यथार्थ निर्णय प्राप्त करने की विधि प्रस्तुत पुस्तक में बताई गई है।

निर्णय करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय यह है कि हमारे निर्णय का विषय क्या हो? उत्तर होता है — अपना स्वयं का आत्मा। फिर प्रश्न होता है कि वह आत्मा कैसा है? इसका समाधान करने के लिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता हैं। अत: अपना यथार्थ स्वरूप समझने के लिए भगवान अरहन्त की आत्मा को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर, अपनी आत्मा का स्वरूप समझाने वाली प्रवचनसार की गाथा ८० के माध्यम से अपने स्वरूप को समझने की विधि इस पुस्तक में बताई गई है। उसके द्वारा अपने आत्मा का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझाया गया है। मेरी आत्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभावी अरहन्त भगवान के समान है। जिसप्रकार भगवान अरहन्त का ज्ञान अपने आत्मा में बसे हुए अनन्त गुण के समुदायरूप निज आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को तन्मय होकर जानता है, लेकिन जगत के अन्य पदार्थों को जानता तो है, लेकिन तन्मय हुए बिना परज्ञेय के रूप में मात्र जान लेता है। हमारा आत्मा भी अप्रयोजनभूत परपदार्थ जानने में आ जाने पर भी, उनको उपेक्षितरूप से जान लेता है, लेकिन दुःखी-सुखी नहीं होता लेकिन स्व में अपनापन होने से स्व के जानने से आत्मा आनन्द का भोक्ता बन जाता है।

निःशंक निर्णय प्राप्त करने का उपाय आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय-१, सूत्र-६ में कहा है कि "**प्रमाणनयैरधिगमः** अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा स्वरूप का यथार्थ निर्णय होता है।" अतः निर्णय करने में नयज्ञान की उपयोगिता है? — इस पुस्तक में यह भी बताया गया है। द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय का स्वरूप एवं विषय बताते हुए इनके ज्ञान से अपनी ही पर्यायों की भीड़-भाड़ में छुपी अपनी आत्मज्योति को भेदकदृष्टि से द्रव्यार्थिकनय के द्वारा निकाल लेता है। अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहंपना स्थापन करने के लिये भगवान अरहन्त के आत्मा के दृष्टान्त की कसौटी से अपने आत्मा को कसने की विधि समझाई है। साथ ही पर्यायार्थिकनय के विषयभूत अपनी पर्याय एवं अन्य सभी को, अपने से भिन्न परज्ञेय जानकर, उनमें से अहंपना दूर कर, उनके प्रति कर्तापने की बुद्धि के अभाव द्वारा उपेक्षाभाव जागृत कर, तटस्थ ज्ञाता-भाव प्रगट करने का उपाय भी इस पुस्तक में बताया गया है।

अपने ही आत्मा के अन्दर बसे हुए त्रिकालीज्ञायक ऐसे आत्मस्वरूप की अनुभूति में बाधक ऐसे यथार्थ भेदज्ञान का अभाव होने से उसका यथार्थ ज्ञान हुए बिना शुद्धात्मानुभूति प्राप्त होना असंभव है। ऐसे भेदज्ञान का उपाय निश्चयनय एवं व्यवहारनय का यथार्थ ज्ञान है। अतः उनका भी सांगोपांग ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उनका स्वरूप एवं मोक्षमार्ग प्राप्त करने में उनकी उपयोगिता भी इसमें बताई गई है। यथार्थतः निश्चयनय का कार्य, व्यवहार का निषेधक बने रहना ही है; परन्तु ऐसा होने पर भी मोक्षमार्ग में निश्चय का सहचारी बना रहकर व्यवहार बाधक

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

नहीं होता, वरन् दोनों की मैत्री बनी रहती है इत्यादि अनेक विषयों की स्पष्टता द्वारा दृष्टि में निर्मलता स्पष्टता होकर मार्ग के प्रति निःशंकता उत्पन्न हो, ऐसा प्रयास भाग ३ में किया गया है। प्रसंगोपात्त पुरुषार्थ की यथार्थ परिभाषा, आत्मकल्याण में इन्द्रिय ज्ञान से भी मनजन्य ज्ञान विशेष बाधक कैसे है? — आदि विषयों का भी इसमें विवेचन किया गया है।

इसप्रकार तीनों भागों के विषय का सार-संक्षेप है। आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य कुछ आवश्यक स्पष्टीकरण उपरोक्त तीनों भागों के विषयों द्वारा भले प्रकार से निर्णय करने के पश्चात् भी रह जाते हैं, उनका विवेचन प्रस्तुत पुस्तक भाग-४ में करने का प्रयास किया गया है।

भाग-४ का विषय प्रवेश

प्रस्तुत भाग के विषय का मूल आधार "आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है" ऐसा दृढ़ निश्चय प्रगट करने के लिए प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकारों के आधार पर विस्तारपूर्वक ऐसा स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की गई है कि ज्ञेयों का ज्ञान भी वास्तव में ज्ञान की ही पर्याय है; ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव का ही प्रकाशन है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी ही रहता है। यथार्थतः आत्मा ही ज्ञेय है, आत्मा ही ज्ञाता है और आत्मा ही ज्ञान है; इन तीनों की अभेद-अनुभूति ही वास्तव में आत्मा की अनुभूति है।

उपरोक्त विषय को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करने के लिए आगम के आधारपूर्वक अनेक दृष्टिकोणों से इस पुस्तक में चर्चा की गई है, जिसकी जानकारी विषय सूची से प्राप्त करनी चाहिए।

इसप्रकार प्रस्तुत पुस्तक के चारों भागों का अध्ययन रुचि एवं एकाग्रतापूर्वक करने से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अवश्य हो जाना चाहिए। आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा जागृत होते ही आत्मा को ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा छह द्रव्यों से तो सभीप्रकार से अत्यन्त भिन्न है ही, उनको भिन्न करना नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष भिन्न ही है; मानों तो भी भिन्न हैं और नहीं मानों तो भी वे तो भिन्न ही हैं और भिन्न ही रहेंगे। अतः वे द्रव्य आत्मा से भिन्न होते हुए भी, मात्र ज्ञान के माध्यम से ज्ञेय के रूप में आत्मा के ज्ञान में आ जाने से आत्मा से सम्बन्धित हो जाते हैं; क्योंकि आत्मा में एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जो स्व-पर का ज्ञायक है। प्रवचनसार गाथा १५५ की टीका में भी यही कहा है कि "वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है।" अतः उपयोग परलक्ष्यी होने पर ज्ञेयों का ज्ञान तो होगा ही, ज्ञान में ज्ञेय का तो अंश भी नहीं आता, वास्तव में वह तो ज्ञान की पर्याय की उस समय की योग्यता का प्रकाशन है, मेरी पर्याय अपनी योग्यता से ज्ञेय के आकार परिणमी है; अतः वह तो मेरी पर्याय ही ज्ञात हो रही है। इसप्रकार ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी उनका यथार्थ स्वरूप समझ ले तो, ऐसी श्रद्धा जागृत हो जाती है कि उनका मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है और उनके प्रति सहज ही उपेक्षाबुद्धि हुए बिना नहीं रह सकती। ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि खड़ी होते ही उपयोग के लिए आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रयभूत नहीं रहता, अतः वह उपयोग, आत्मदर्शन करने की पात्रता उत्पन्न कर लेता है और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की अभेदता कर आत्मा के आनन्द की अनुभूति कर लेता है। ऐसे जीव की बाह्य परिणति भी सहज ही वैराग्यमय हो जाती है। संसार, देह, भोगों के प्रति अंतर में विरक्ति वर्तने से बाह्य जीवन भी पवित्र एवं वैराग्यमय हो जाता है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अत्यन्त प्रीति-भक्ति तथा जिनवाणी का अध्ययन ही उसकी जीवनचर्या बन जाती है। जिसकी परिणति में ऐसा परिवर्तन नहीं आया हो तो उसको जिनवाणी का अभ्यास वर्तते हुए भी, यथार्थतः उसको ज्ञान-ज्ञेय का विभागीकरण अन्तर में नहीं हुआ है। ऐसा स्पष्टतः ज्ञात होता है।

इसप्रकार उक्त अध्ययन का यथार्थ फल आत्मानुभूति होना चाहिए।

— *नेमीचन्द पाटनी*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भिक

(यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण)

उपरोक्त विषय में प्रथम चरण के रूप में "यथार्थ निर्णय कैसे हो" इस विषय पर चर्चा करेंगे।

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मार्थी को यथार्थ निर्णयपूर्वक सविकल्प आत्मज्ञान प्राप्तकर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया गूढ़ एवं गम्भीरतापूर्वक समयसार गाथा १४४ की टीका में प्रतिपादित की है, जिसका पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद निम्नप्रकार प्रस्तुत है —

"प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए पर-पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्म सन्मुख किया है; तथा जो नानाप्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्म सन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो — ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है। इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।"

उपरोक्त गाथा की टीका का "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय करके" अंश ही हमारी इस पुस्तक माला में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगामी चर्चा का मुख्य विषय होगा; क्योंकि उपरोक्त टीका में देशनालब्धि से प्रारम्भ कर, प्रायोग्यलब्धि एवं करणलब्धिपूर्वक सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन प्राप्त करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी है।

विस्तारपूर्वक समझने के लिए उपरोक्त टीका को निम्नप्रकार से चार चरणों में बांटा जा सकता है —

१. *देशनालब्धि* — "प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके"

२. *प्रायोग्यलब्धि* — "और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर-पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर, जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है; तथा जो नानाप्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ।"

३. *करणलब्धि* — "अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो — ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मा समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है।"

४. *निर्विकल्प आत्मानुभूति* — "तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है।"

इसप्रकार उपरोक्त टीका हमारे प्रयोजनभूत विषय को सर्वांगीण स्पष्ट करने वाली है। अतः सर्वप्रथम देशनालब्धि के प्रकरण की मुख्यता से चर्चा प्रारम्भ की जा रही है।

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखी होने का उपाय

भाग-४

(यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण)

देशनालब्धि

सम्यक्त्वसन्मुख जीव की पात्रता

आचार्य पद्मनन्दि ने सम्यक्त्वसन्मुख जीव की पात्रता का सूचक निम्न श्लोक कहा है —

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाणभाजनं ॥

जो प्रीतिचित्तपूर्वक आत्मा की वार्ता को सुनता है वह निश्चितरूप से भव्य है व भावी निर्वाण का पात्र है (अर्थात् निकट भव्य है)।

प्रीतिचित्तपूर्वक आत्मा की बात सुनने वाला कैसा होगा? उसका चित्र पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार पृष्ठ २५७ पर निम्नप्रकार बतलाया है —

"वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादितत्त्वों के तथा निज-पर के और अपने अहितकारी-हितकारी भावों के — इत्यादि उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है — ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना, उसके निर्धार करने का उद्यम किया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी के समर्थन में श्रीमद् राजचन्द्र के निम्न वाक्य भी मननीय हैं —

काम एक आत्मार्थनों, बीजो नहिं मनरोग।

तथा

कषायनी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास॥

सम्यक्त्वसन्मुख जीव कहो अथवा आत्मार्थी जीव कहो — ये दोनों ही एकार्थवाची हैं।

जिस जीव के हृदय में उपरोक्त प्रकार की भावना जागृत हुई हो, वह जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त करने की यथार्थ पात्रता रखता है। अन्तर में ऐसी पात्रता प्रगट हुए बिना किसी भी जीव को आत्मदर्शन करने योग्य पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं हो सकता। जिस जीव को ऐसे भाव जाग्रत हुये हों कि "अहो मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है, तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।" हम इन भावों को अपने अन्तर में उतारकर टटोलें तो ज्ञात होगा कि जिसके हृदय में ऐसा भाव आया है कि "मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं" मात्र इन भावों से ही जीव की पात्रता ख्याल में आ जाती है। ऐसा जीव ही देशना को प्राप्त कर उग्र पुरुषार्थ एवं मनोयोगपूर्वक समझने का प्रयास करेगा, अपनी वर्तमान पर्याय की नश्वरता भी उसको ख्याल में आ गई है कि "इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है;" अतः ऐसी भावना पूर्वक जो देशना के द्वारा सुनेगा; उसको उग्र रुचि पूर्वक समझने का प्रयास करेगा। अब तो उसको एक-एक क्षण भी अत्यन्त मूल्यवान लगने लगा है तथा विचार आता है कि इस देह का कोई भरोसा तो है नहीं कि कब छूट जावे और मेरी साधना अधूरी रह जावे। अतः उसकी रुचि का वेग अति उग्र हो जाता है। साथ ही उस जीव को अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूल भी ज्ञान में आ गई है, विचारता है कि "भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, लेकिन इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है।" इन विचारों के द्वारा अपनी मान्यता की विपरीतता ख्याल में आने से, उसे यह विचार भी आया कि अभी तक का काल व्यर्थ गया। अतः अब तो वह उस देशना को समझकर ग्रहण करने में सर्वोच्च प्राथमिकता देने लगता है। वर्तमान सत्समागम की अत्यधिक दुर्लभता भी विचार में आ जाने से आत्मार्थी, एकमात्र आत्मा को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाकर, सांसारिक सभी प्रसंगों को अत्यन्त गौण करते हुए एकमात्र आत्मदर्शन प्राप्त कर लेने के साधनों को ही सर्वोत्कृष्ट प्राथमिकता देते हुए तीव्र रुचिपूर्वक पुरुषार्थ करता है। ऐसा जीव ही आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति में समागत कलश नं. २३ के निम्न भाव को भी सार्थक करेगा कि "**अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्** अर्थात् हे भाई ! तू किसी प्रकार भी महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों को कौतूहली होकर देख।"

और आचार्य पद्मनन्दि ने ऐसे जीव को ही "**निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाण भाजनं** अर्थात् उस ही को निकट भव्य एवं भावी निर्वाण-भाजन कहा है।"

आचार्यश्री योगीन्द्रदेव के शिष्य प्रभाकर भट्ट भी ऐसी ही भावना वाले शिष्य थे, उनकी प्रार्थना पर करुणा करके आचार्यश्री ने परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की रचना की। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की गाथा ८-९-१० की टीका के निम्न वाक्यों से भी यह बात स्पष्ट है — "भगवन् ! मैं तो संसार भ्रमण करते-करते त्रस्त हो चुका हूँ। मुझे सब कुछ मिला, लेकिन एकमात्र शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई, अतः मुझे मेरे शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति कैसे हो ? वह उपाय बताइये, मुझे अब एक भव भी धारण नहीं करना है ... "

उपरोक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वसन्मुख पात्रजीव ऐसा होना चाहिये, जो अन्तर में संसार-देह-भोगों से विरक्त हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया हो और एकमात्र आत्मार्थ पोषण की सर्वोच्च प्राथमिकता बनाली हो; सफलता प्राप्त करने के लिए जिसका वीर्य (पुरुषार्थ) उछाले मारता हो; दृढ़ निश्चयवान् हो कि मैं तो इस पर्याय में ही निश्चितरूप से आत्मदर्शन प्राप्त करूँगा। ऐसा जीव ही उक्त देशना में से "मैं एक ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ" इस तथ्य को बाह्यदृष्टि से और अन्तर्दृष्टि से खोजने में संलग्न हो जावेगा और अवश्य आत्मा को प्राप्त कर लेगा।

ज्ञानस्वभावी आत्मा को खोजने की पद्धति

आचार्यश्री ने उक्त टीका में आत्मदर्शन प्राप्त करने की पद्धति बताई है। उसमें सर्वप्रथम ही यह कहा है कि "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके" अर्थात् सर्वप्रथम करने योग्य कार्य एकमात्र ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय (निश्चय) करना ही है।

उपरोक्त वाक्य से इस समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है कि सर्वप्रथम हमको आत्मानुभव के लिए क्या करना चाहिए? साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दया-दान, पूजा-भक्ति, स्वाध्याय, संयम, व्रतादि क्रियायें पुण्य प्राप्ति के लिए कार्यकारी हैं; लेकिन आत्मानुभव के लिये तो यथार्थ निर्णय ही कार्यकारी हो सकेगा। यह बात अवश्य है कि देशनालब्धि के पूर्व विशुद्धिलब्धि भी अवश्यम्भावी है और उपरोक्त पात्रता वाले जीव के अत्यन्त कोमल परिणाम होने से विशुद्धिलब्धि तो वर्तती ही है। उसे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति, शास्त्र अध्ययन के साथ-साथ दया-दानादि के भाव भी होते ही हैं; फिर भी वह उन भावों को आत्मानुभव के लिए कार्यकारी नहीं मानता। रुचिपूर्वक अपनी आत्मा के अनुसंधान में संलग्न रहता है कि "मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी कैसे है?" तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वसन्मुख जीव को सर्वोच्च प्राथमिकता पूर्वक आत्मानुभव के लिए करने योग्य कार्य तो यही है कि "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा कैसे हूँ यह निर्णय करना।"

उपरोक्त कथन से यह भी सारांश निकलता है कि समस्त द्वादशांग वाणी का सार भी मात्र यही निर्णय कराना है कि यह आत्मा ज्ञानस्वभावी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे है? आचार्यश्री ने आत्मार्थी के लिए उपरोक्त पद्धति के द्वारा मार्ग, अत्यन्त सरल, संक्षिप्त एवं प्रशस्त कर दिया है; समस्त द्वादशांगवाणी का अध्ययन भी इसी खोजने के लिये करना है कि "मैं (आत्मा) ज्ञानस्वभावी कैसे हूँ?" अल्पज्ञान से हो अथवा विशेष ज्ञान से, ऐसा निर्णय कर लिया जावे कि "मैं (आत्मा) ज्ञानस्वभावी हूँ तो फल प्राप्ति रूप आत्मज्ञान तो दोनों को समान ही प्राप्त होगा? क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही था। यही कारण है कि तिर्यंच को भी आत्मदर्शन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन तथ्यों के जानने से समस्त द्वादशांगवाणी में से यह निष्कर्ष निकलता हो कि "आत्मा तो एकमात्र ज्ञानस्वभावी है" मात्र ऐसा निष्कर्ष ही मोक्षमार्ग के लिए प्रयोजनभूत है। इस को मुख्य रखकर आत्मार्थी जिनवाणी के अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, चिन्तन, मनन तथा सत्समागम आदि के द्वारा एकमात्र ऐसा निर्णय करने में संलग्न रहता है।

आगमज्ञान की महत्ता

इसलिए उपरोक्त विषय का सर्वप्रथम सैद्धान्तिक ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट एवं यथार्थ होना चाहिए। उपरोक्त गाथा १४४ की टीका प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम आचार्यश्री ने भी इस ही कारण "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय" करने का निर्देश किया है। अपने कल्याण के उद्देश्य से रुचिपूर्वक सत्समागम द्वारा द्रव्यश्रुत के अध्ययन, चिन्तन, मनन करने से ही ऐसा निर्णय प्राप्त किया जा सकता है; अतः आत्मार्थी का सर्वप्रथम कर्तव्य द्रव्यश्रुत का अध्ययन ही है। द्रव्यश्रुत के अध्ययन का महत्व बताने वाले आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव के प्रवचनसार ग्रन्थ के निम्न कथन गम्भीरतापूर्वक हृदयंगम करने योग्य हैं —

गाथा ८६ का अर्थ — जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोहोपचय-क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्रों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ९० का शीर्षक — अब सब प्रकार से स्वपर-विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते हैं।

गाथा ९२ की टीका — यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है, इसमें विघ्न डालने वाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है और वह बहिर्मोहदृष्टि तो आगम कौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी।

टीका के अन्त में लिखते हैं कि "अधिक विस्तार से बस हो, जयवन्तवर्तो, स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म।"

गाथा २३७ का सार — अब ऐसा सिद्ध करते हैं कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व के अयुत्पने को मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता।

उपरोक्त आगम वाक्यों के अतिरिक्त श्रमण, साधु परमेष्ठी के आचरण का प्रज्ञापन करने वाली चरणानुयोग सूचक चूलिका में श्रमण को आगम-अध्ययन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती — इसही आशय को बताने वाली गाथा २३२ से २३८ एवं २४० की टीका एवं गाथा २६८ भी मननीय हैं; विस्तारभय से यहाँ उद्धृत नहीं की गई है। इसप्रकार एक प्रवचनसार में ही द्रव्यश्रुत के सम्यक् अध्ययन की महिमा १३ स्थानों पर की गई है। मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का तो सार ही एकमात्र तत्त्वनिर्णय करने पर ही बल देना है और वह सम्यक् अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है, अतः उसका तो हर एक पृष्ठ इसकी ही प्रेरणा देता है।

इसप्रकार स्पष्ट होता है कि द्रव्यश्रुत के सम्यक् अध्ययन के बिना पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान नहीं होगा, पदार्थ श्रद्धान के बिना स्वपर का विवेक नहीं होगा, स्व-पर के यथार्थ विवेक बिना, अपने आत्मा की परिणति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वसन्मुख होना असम्भव है, उसके बिना आत्मानुभूति भी सम्भव नहीं है। अतः जैसे भी बने वैसे रुचिपूर्वक द्रव्यश्रुत के अवलम्बन द्वारा आत्मार्थी का "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ" ऐसा निर्णय करना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

द्रव्यश्रुत के अध्ययन करने की विधि के सम्बन्ध में मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के आधार से **सुखी होने का उपाय भाग-२ में पृष्ठ २२ से ४२ तक "तत्त्वनिर्णय करने की विधि" की विस्तार से चर्चा की गई है**, उसका वर्तमान सन्दर्भ में मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। इसमें इस समस्या का समाधान किया गया है कि द्वादशांग के रूप में द्रव्यश्रुत तो विस्तरित विशाल है और हमारा जीवन एवं बुद्धि अतिअल्प है, अतः हम किस-किसका अध्ययन करें; हमारा जीवन समाप्त हो जाने पर भी यह तो पूरा होने वाला नहीं है, फिर हम आत्मानुभव कब और कैसे कर पावेंगे ?

तात्पर्य यह है कि समस्त द्रव्यश्रुत के अध्ययन का सार तो एकमात्र "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ" ऐसा निर्णय कराना ही है और ऐसा निर्णय करने की पद्धति ही एकमात्र प्रयोजनभूत है।

क्रमशः दो पद्धतियों द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय

अनादिकाल से यह अज्ञानी जीव अपने आत्मा को क्रोधी, मानी, मायावी आदि अनेक भावों वाला मानता चला आ रहा है; क्योंकि इसको आत्मा मात्र इन्हीं रूप अनुभव में आ रहा है। इन भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा का स्वरूप हो भी सकता है? ऐसी इसको शंका ही नहीं होती, अतः निःशंकतापूर्वक आत्मा को ऐसा ही मानता चला आ रहा है। इसप्रकार की मान्यता वाले जीव को ही जिनवाणी में अज्ञानी सम्बोधन किया है।

समयसार की गाथा ६९-७० की टीका में भी ऐसा ही कहा है —

"जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोग सिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष (अन्तर) न जानता हुआ उनके भेद को नहीं देखता तब तक निःशंकतया क्रोधादि में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनेपने से प्रवर्तता है और वहाँ (क्रोधादि में अपनेपने से) प्रवर्तता हुआ वह यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है, तथापि स्वभावभूत होने का उसे अभ्यास (मिथ्या अभिप्राय) होने से क्रोधरूप परिणमित होता है, राग रूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है।"

ऐसी विपरीत श्रद्धा वाले जीव को ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराना कितना कठिन कार्य लगता है कि "वह क्रोधस्वभावी नहीं है, वरन् ज्ञानस्वभावी है" यह तो पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। अतः उपरोक्त श्रद्धा परिवर्तन के लिए उग्र रुचि एवं गम्भीरतापूर्वक तीव्र लगन के साथ समझने का पुरुषार्थ भी सतत् रूप से करना पड़ेगा, तभी कार्यसिद्धि सम्भव है।

उपरोक्त श्रद्धा परिवर्तन का पुरुषार्थ करने की क्रमशः दो पद्धतियाँ हैं। सर्वप्रथम तो उपरोक्त विषय का सैद्धान्तिक ज्ञान करना आवश्यक है। सैद्धान्तिक ज्ञान के माध्यम से यथार्थ निर्णय प्राप्त कर लेने पर, उसका अपने आपको अर्थात् स्वयं को भावभासन होना चाहिए कि यह सारा कथन मेरे स्वयं के लिए कल्याणकारी कैसे हो। उसही को आधुनिक भाषा में सैद्धान्तिक ज्ञान कहा जाता है।

इस पहली पद्धति में द्रव्यश्रुत का अध्ययन, सत्समागम एवं श्रवण, चिन्तन आदि इस श्रद्धापूर्वक होना चाहिये कि जिनवाणी तो आप्त वचन है, सर्वज्ञ अनुसार है, अतः निःशंक श्रद्धा करने योग्य है। इसप्रकार रुचि एवं लगनपूर्वक जिनवाणी का अभ्यास करने से ही स्व-पर का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

दूसरी पद्धति में आत्मा का जो स्वरूप प्रथम पद्धति के माध्यम से समझा था। एवं आगम, अनुमान, तर्क आदि के माध्यम से निर्णय में दृढ़ किया था, उसी को उग्र रुचिपूर्वक चिन्तन, मनन के द्वारा, अपने भावों से मिलान कर भावभासन प्राप्त कर, अन्तर्परिणति में त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापन करना चाहिये। पर अर्थात् ज्ञेय मात्र में परपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापन कर, उनसे उपेक्षित बुद्धिकर, स्व का आकर्षण बढ़ाकर, उपयोग को आत्मसन्मुख करना चाहिये। इसही को आधुनिक भाषा में प्रायोगिक पद्धति कहा जाता है।

इसप्रकार उपरोक्त दोनों पद्धतियों के माध्यम से **"मैं ही एक ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, और मेरा स्वभाव अर्थात् कार्य तो मात्र जानना ही है। ये क्रोधादि अनेक प्रकार के भाव तो मेरे ज्ञान में मात्र पर-ज्ञेय रूप में ही प्रतिभासित होते हैं"** इसप्रकार ज्ञेय मात्र में परपने की स्थापना कर, वे सब ही उपेक्षा करने योग्य हैं, मात्र एक मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही मेरा मानने योग्य है, ऐसे अकाट्य निर्णय के एवं रुचि एवं परिणति की उग्रता के पृष्टबल से अपने उपयोग को सब ओर से समेटकर, आत्मसन्मुख कर आत्मदर्शन कर लेना चाहिये।

सैद्धान्तिक ज्ञान के द्वारा यथार्थ निर्णय प्राप्त किए बिना किसी भी प्रकार से अन्तर विचारधाराओं में प्रायोगिक परिणमन होना असंभव है।

द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय

अनेक वस्तुओं के बीच में खोई हुई किसी भी वस्तु को पहिचानने के लिए सर्वप्रथम उस वस्तु का लक्षण जानना चाहिए। लक्षण भी ऐसा होना चाहिए कि वह लक्षण (चिन्ह) उस वस्तु (लक्ष्य) में ही मिले और उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी भी दूसरी वस्तु (अलक्ष्य) में न मिले। साथ ही वह लक्षण ऐसा होना चाहिए कि वह सर्वत्र एवं सर्वदा कभी भी उस वस्तु (लक्ष्य) से अलग न हो और वह सर्वविदित भी हो अर्थात् सहज रूप से ज्ञात हो। इसप्रकार वह स्पष्ट होकर बुद्धिगम्य हो सके।

हमको हमारा ज्ञानस्वभावी आत्मा खोजना है, तो सर्वप्रथम हमको उसका यथार्थ लक्षण जानना चाहिए। यथार्थ लक्षण जानने के साथ उसको खोजने का क्षेत्र भी निर्णीत होना चाहिए कि उसको कहाँ-कहाँ खोजना है। अतः सर्वप्रथम हमको द्रव्यश्रुत के आधार से उपरोक्त विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"उपयोगो लक्षणं"

आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में आत्मा का लक्षण "उपयोग" बताया है। उपयोग अर्थात् "ज्ञान-दर्शन का व्यापार" यह आत्मा का ऐसा लक्षण है। जो आत्मा में ही मिलता है, अन्य किसी में मिलता नहीं और ज्ञान कभी भी आत्मा से अलग होता नहीं, अर्थात् आत्मा उसके बिना रह नहीं सकता। साथ ही ये लक्षण सर्वविदित भी है, जैसे मृतक देह। मृतक देह में जब तक ज्ञानधारी आत्मा (जीव) विद्यमान था, तब तक देखने-जानने की क्रिया भी उसमें प्रत्यक्ष देखी जाती थी और जब वह ज्ञानधारी आत्मा इस शरीर से निकल गया तो वही शरीर जलाकर भस्म करने योग्य मान लिया गया। अतः इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि जो शरीर में से निकला है उसमें ही ज्ञान था, इसीकारण उसके निकलते ही ज्ञानरहित दिखने लगता है इन सब तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा को खोज निकालने के लिए सर्वविदित एवं निर्दोष लक्षण ज्ञान (उपयोग) ही है।

लक्षण वह ही निर्दोष माना जाता है, जिसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असंभवी ऐसा किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगता हो? आत्मा का ज्ञान लक्षण ऐसा है जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं पाया जाता, अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं लगता तथा आत्मा चाहे निगोद दशा में पहुँच जावे अथवा सिद्ध दशा को प्राप्त हो, कहीं भी आत्मा एक समय के लिए भी ज्ञान से रहित नहीं रहता, अतः अव्याप्ति दोष से भी रहित है और ज्ञान आत्मा में होता ही है, अतः असंभव दोष से भी रहित है। इसप्रकार हरएक दृष्टिकोण से ज्ञान ही आत्मा का निर्दोष एवं सर्वविदित लक्षण सिद्ध होता है। इसी का समर्थन समयसार की गाथा ४९ में निम्नप्रकार से किया है —

"जीव चेतना गुण शब्द रस-रूप-गंध-व्यक्ति विहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान, उसका ग्रहण नहिं है लिंग से॥"

कलश ४२ के उत्तरार्ध में भी कहा है —

"इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्याप्ति वा।
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम्॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ — परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषों ने अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दूषणों से रहित चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है, वह योग्य है। वह चैतन्य लक्षण प्रगट है, अपने जीव के भूतार्थ स्वरूप को प्रगट किया है और वह अचल है — चलाचलता रहित सदा विद्यमान है। जगत उसी का अवलम्बन करो।"

इसके अतिरिक्त समस्त जैन शासन में भी ज्ञान-चेतना-उपयोग आदि अनेक नामों से चेतना को ही जीव का (आत्मा का) लक्षण कहा है, सभी नाम मात्र ज्ञान के ही हैं। आत्मा का ऐसा असाधारण लक्षण यह ज्ञान ही है, जिसके द्वारा हम इस आत्मा को कहीं भी कैसी भी दशा में हो, खोज सकते हैं।

अपनी आत्मा को कहाँ खोजना चाहिए?

सारा विश्व (लोक) छह द्रव्यों का समुदाय है। जाति की अपेक्षा द्रव्य छह प्रकार के होते हुए भी संख्या में अनन्तानन्त हैं। इन सबमें से पहले तो जीवद्रव्य को खोजना चाहिए। उसके लिए ज्ञान लक्षण के द्वारा खोजने पर, अन्य पाँच प्रकार के अचेतन द्रव्यों में तो ज्ञान है ही नहीं, अतः अनन्तानन्त द्रव्य में से जीवद्रव्यों को तो सरलतापूर्वक अलग कर लिया गया। इसप्रकार के भेदज्ञान द्वारा हमको अनन्त जीवद्रव्यों में से अकेले अपने जीवद्रव्य को ही खोजना बाकी रह जाता है।

अब उन जीव द्रव्यों में से भी मात्र अकेले अपने आत्मा को भिन्न करने के लिये भी उपर्युक्त लक्षण चाहिये, अन्यथा हम भिन्न कैसे समझ सकेंगे? इसप्रकार सब जीवों से भिन्न करने के लिये सुख अथवा दुःख को लक्षण मानकर हम उन अन्य जीवों से अपने को भिन्न समझ सकेंगे। हमको प्रत्यक्ष अनुभव है कि मेरे सुख अथवा दुःख का वेदन मुझे तो होता है, लेकिन अन्य जीवों को मेरा वेदन, ज्ञान में अर्थात् जानकारी में तो आ जाता है लेकिन वेदन नहीं होता। ऐसा तो हम सबको भी परिचय है कि अन्य हमारे निकट से निकट संबंध वाले जीव के वेदन का ज्ञान होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सिद्ध होता है कि अन्य सभी जीवद्रव्य मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हुये भी, उनके सुख दुःख मेरे को नहीं होते इसलिये वे मेरे से भिन्न हैं। तथा मेरा ज्ञान मेरे को जिसप्रकार स्व के रूप में जानता है, उसीप्रकार अन्य जीवों को स्व के रूप में नहीं जानता वरन् परज्ञेय के रूप में जानता है। तथा हरएक द्रव्य अपने-अपने स्वक्षेत्र अर्थात् अपने-अपने प्रदेशों में ही विद्यमान रहते हैं एवं व्यापते हैं अतः मेरे में कोई भी अन्य द्रव्य में व्याप ही नहीं सकता, सभी द्रव्य अपने-अपने स्वक्षेत्र में रहकर ही परिणमन करते हैं, इन अपेक्षाओं से स्पष्ट होता है कि अन्य जीवों में से मेरा जीव भिन्न अस्तित्व रखने वाला पदार्थ है। इसप्रकार अनन्त जीवों से अपनी आत्मा को भिन्न समझ सकेंगे, यही अन्य जीवों से अपने जीव की भिन्नता का भेदज्ञान हैं।

इसप्रकार लोक के अनन्तानन्त द्रव्यों एवं जीवों में खोए हुए अपने आत्मा को खोजकर स्वआत्मा के रूप में समझ लिया जाता है तथा अन्य सभी द्रव्यों एवं जीवों में सहज रूप से परपना आ जाता है अर्थात् ये सब (अन्य जीव द्रव्यों सहित) अनन्तानन्त द्रव्य मेरे आत्मा के लिए तो पर हैं— ऐसी श्रद्धा जागृत हो जाती है। इस विषय की विस्तार से चर्चा आप इसी पुस्तक के भाग-१ में पढ़ चुके हैं, फिर भी पुनरावृत्ति के लिए भाग-१ की विषय सूची के माध्यम से इस निर्णय के लिए आवश्यक विषयों का पुनः अध्ययन कर वस्तुव्यवस्था एवं आत्मा के ज्ञान-स्वभाव के सम्बन्ध में समझकर, यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिए।

अपने द्रव्य में भी स्वतत्त्व की खोज

शंका — उपरोक्त पद्धति से अनन्तानन्त द्रव्यों में से अपने आत्मद्रव्य को भिन्न खोजकर अपने द्रव्य के रूप में पहिचान लिया गया। लेकिन जब अपने आत्म द्रव्य में भी देखते हैं तो वहाँ भी आत्मा हमको क्रोधी, मानी, मायावी आदि अनेक भावों के रूप में ही दिखता है। आगम कहता है कि आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है, लेकिन हमको तो ऐसा

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

दिखता ही नहीं। अतः समस्या उपस्थित हो जाती है कि फिर ज्ञानस्वभावी-आत्मा को खोजकर किसप्रकार निकाला जावे?

समाधान – इस समस्या का समाधान जिनवाणी में विस्तार पूर्वक उपलब्ध है। जीव द्रव्य की अन्तर्व्यवस्था को समझने में ही उस समस्या का समाधान है। अनादिकाल से सात या नवतत्त्वों के वेषों में अपना जीवतत्त्व छुपा हुआ है; लेकिन फिर भी, जिसने अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ा है अपने जीवतत्त्व को अन्तर्दृष्टि से खोजकर प्रगट किया जा सकता है। क्योंकि अनादिकाल से छुपा होने पर भी, जीवतत्त्व अपनी स्वभाव सत्ता तो जैसी की तैसी ही अक्षुण्ण बनाये हुये है। अतः वह जीवतत्त्व तो अनेक वेषों से भी अप्रभावित रहते हुए जैसा का तैसा विद्यमान है, अतः उसको स्वात्मा के रूप में पहिचानकर प्राप्त करना कठिन कैसे हो सकता है? लेकिन उसको समझना तब ही सम्भव हो सकेगा जब हमको उसका असाधारण लक्षण ज्ञात हो। वह लक्षण भी ऐसा होना चाहिए, जो उन पर्यायरूप वेषों में भी नहीं हो और स्वआत्मा से वह समय-मात्र के लिए भी भिन्न नहीं हो।

इसप्रकार इन पर्यायरूप वेषों में छुपी हुई आत्मज्योति को अर्थात् जिसको स्व जीवतत्त्व के रूप में सम्बोधित किया गया, उसे पहिचानने के लिए भी उपरोक्त ज्ञान ही एकमात्र असाधारण लक्षण है; लेकिन इस ज्ञानलक्षण के प्रयोग में विवेकपूर्वक विशेष सतर्कता एवं सावधानी की आवश्यकता है।

छह प्रकार के अन्य द्रव्यों में से अपने जीवद्रव्य को पहिचानना सरल है; क्योंकि सबकी सत्ता ही अलग-अलग है। जिनका अस्तित्व ही भिन्न है, उनमें से अपने को अलग छांट लेना कठिन कैसे हो सकता है? लेकिन मेरी सत्ता भिन्न होने पर भी असंख्यात प्रदेशों का समुदायरूप द्रव्य एक होकर भी अनेक रूप परिणमता हुआ हमें दिखता है; ऐसे द्रव्य में भी द्रव्य से पर्याय का भेद करना असंभव ही लगता है। इसीकारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त द्वादशांग का केन्द्रबिन्दु भी इसी समस्या को हल करने का है कि **"अपने आत्मद्रव्य में से भी अपने जीवतत्त्व को भिन्न कर, उसे पहिचानना और उसमें अपनापन स्थापन कर पर्याय आदि सबसे ममत्व छोड़ना ?"** अतः आत्मार्थी को पूर्ण सावधानीपूर्वक सत्समागम के द्वारा जिनवाणी का लगन के साथ रुचिपूर्वक अध्ययन करके अपने जीवतत्त्व को खोज लेना चाहिए।

द्रव्य की परिभाषा

द्रव्य का स्वरूप तो आप इसी पुस्तक के प्रथम भाग के माध्यम से समझ ही चुके हैं कि **"सत् द्रव्य लक्षणं, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यं।"** द्रव्य का लक्षण तो सत् है और वह सत् हर समय पलटते हुए भी, ध्रुव एकरूप शाश्वत बना रहता है तथा वह ध्रुवतासहित पलटनेवाला द्रव्य स्वयं अनन्तगुणों का एकरूप अखण्ड पिण्ड है और वही हर समय ध्रुवरूप रहते हुए भी अनन्तगुणों सहित हर समय पलटता रहता है।

तत्त्व की परिभाषा

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के सूत्र २ में तत्त्व की परिभाषा निम्नप्रकार बताई गई है —

"तस्य भावस्तत्त्वं, तस्य कस्य? यो यथावस्थितःतथा तस्य भवनमित्यर्थः।"

अर्थ — जो जिसाका भाव (स्वभाव) हो वह तत्त्व है, किसका भाव? जो पदार्थ जैसा है, उसका उसी रूप से परिणमना तत्त्व शब्द का अर्थ है।

जीव द्रव्य एवं जीव तत्त्व का अन्तर समझना

अब द्रव्य एवं तत्त्व की परिभाषाओं को समझकर उन दोनों में क्या अन्तर है यह समझना है। समझने का उद्देश्य तो एकमात्र आत्मानुभव प्राप्त करने का होना चाहिये, उद्देश्य की सिद्धि के लिये स्व एवं पर के विवेकपूर्वक, स्व में अपनापन करने के लिये, पर को पर के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझकर, उनके प्रति ममत्व तोड़कर उपयोग को उनकी ओर से व्यावृत्त करके आत्मसन्मुख होने पर ही आत्मानुभव प्राप्त होता है, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये दोनों के अन्तर को समझना है।

द्रव्य की परिभाषा के द्वारा विश्व के छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा प्रगट होने से तथा स्व एवं पर के विभागीकरण पूर्वक विश्व के अनन्तानन्त द्रव्यों के परिणमनों में कर्ताबुद्धि का अभाव होकर, आत्मा उनकी ओर से अपने आप में सिमटकर, उनके इष्ट-अनिष्ट परिणमनों के प्रति निर्भार होकर, अपना कार्य मात्र अपने स्वद्रव्य में सीमित कर लेता है।

अपना कार्यक्षेत्र अर्थात् छहों जाति के अनन्तानन्त द्रव्यों में अपनी परिणति सिमट जाने से पुरुषार्थ का क्षेत्र मात्र अपना अकेला जीवद्रव्य रह गया। अतः उसमें नित्यस्वभावी ध्रुवभाव एवं अनित्यस्वभावी पर्याय, इन दोनों के स्वभावों को समझकर, नित्य ऐसे ध्रुव भाव में अपनापना स्थापन करने हेतु पर्याय का विश्लेषण करता है। आत्मानुभव का मार्ग समझने के लिये तत्त्व की परिभाषा द्वारा अपनी ही पर्याय में स्वाभाविक पर्याय एवं विभाव पर्याय के वर्णीकरण कर, आत्मानुभव के लिये साधनरूप पर्याय को उपादेय करने हेतु एवं आत्मानुभव में बाधक रूप पर्यायों को हेय मानकर, अपने पुरुषार्थ का उद्देश्य प्राप्त करने हेतु, हेय की ओर से व्यावृत्त कर उपादेय की ओर अग्रसर कर आत्मानुभव प्राप्त करने के लिये, निश्चय-व्यवहार के प्रयोग करते हुये पूर्णदशा प्राप्त कर लेना ही इन दोनों परिभाषाओं का यथार्थ उपयोग है और यही अन्तर है।

सारांश यह है कि द्रव्य की परिभाषा में तो छह द्रव्यों के अनन्तानन्त द्रव्यों में से, स्व-पर का विभागीकरण कर, अपने गुण व विकारी-अविकारी पर्यायों सहित, प्रमाण के विषयभूत अखण्ड द्रव्य में अपनापना स्थापन कराकर, अन्य भाव में परपना श्रद्धा में प्रगट कराने का उद्देश्य होता है। और तत्त्व की परिभाषा में, जिसको पहले स्व के रूप में माना था, उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ध्रुव और पर्याय का विभागीकरण करके एकमात्र त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में अपनापन कराकर, पर्याय मात्र में परपना स्थापन कराना है।

द्रव्य की परिभाषा द्वारा समस्त विश्व (लोकालोक) से अपनापन तोड़कर, अपने स्वद्रव्य में परिणति को समेट लेना है और तत्त्व की परिभाषा के अनुसार अपनी परिणति को पर्याय मात्र में समेटकर, एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में एकत्व कराना है।

सात तत्त्वों के माध्यम से उपरोक्त विषय का विस्तृत विवेचन जिनवाणी में विस्तार से उपलब्ध है। समस्त द्वादशांगवाणी एकमात्र उपरोक्त समस्या का समाधान ही प्रस्तुत करती है। कारण स्पष्ट है कि प्राणीमात्र को सुख चाहिए। सुख का लक्षण तो निराकुलता है, ऐसा सुख धर्म से प्राप्त होता है; इसलिए प्राणी धर्म की शरण लेता है।

अपनी आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मार्थी जब अपने द्रव्य में अनुसंधान करता है तो उसको अपने आत्मद्रव्य में एक ही समय, एक ही साथ शान्ति-अशान्ति का अनुभव होता है। आत्मा क्रोध के समय सम्पूर्ण क्रोधी नहीं हो जाता, आंशिक शान्ति भी वर्तती रहती है। इसलिए आत्मा का अनुसंधान करते हैं तो स्पष्ट समझ में आ जाता है कि द्रव्य तो गुण-पर्यायों का समुदाय अखण्ड पिण्ड है। इसमें ध्रुव पक्ष एकरूप रहते हुए भी, हर समय पलटता रहता है। पलटने वाले पक्ष को ही पर्याय कहा गया है और एकरूप ध्रुव बने रहने वाले पक्ष को द्रव्य (ध्रुव) कहा गया है। अनुभव में भी आता है कि क्रोध तो आकर चला जाता है, लेकिन जीवद्रव्य तो क्रोध आने पर भी और चले जाने पर भी एकरूप ही बना रहता है। अतः स्पष्ट समझ में आता है कि क्रोधादि भाव तो पर्याय होने से पर्याय तक सीमित रहते हैं, लेकिन द्रव्य (ध्रुव) तो उन पर्यायरूप भावों के साथ नहीं बदलता, वरन् एकरूप जैसा का तैसा ध्रुव बना रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि क्रोधादि भाव तो पलटने के स्वभाव वाली पर्याय हैं; अतः उसको दूर किया जा सकता है। उसको दूर करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए आत्मार्थी अपने आत्मद्रव्य में ही स्वतत्त्व की खोज करता है। इस खोज के लिए तत्त्व की परिभाषा ही कार्यकारी होती है।

संक्षेप में कहा जावे तो द्रव्य की परिभाषा के द्वारा तो आत्मार्थी को अनुसंधान का क्षेत्र सीमित हो गया, मात्र अपना स्वद्रव्य ही अनुसंधान करने का क्षेत्र है, अन्य कोई भी द्रव्य न तो मुझे शान्ति प्रदान कर सकता है और न ही मेरी शान्ति छीन सकता है। ऐसी परम स्वाधीनता की श्रद्धा उत्पन्न होकर, भिक्षावृत्ति मिट जाती है और निर्भयता प्रगट हो जाती है। एक स्वद्रव्य की यथार्थ समझ पूर्वक श्रद्धा जागृत होने से, आत्मार्थी को उपरोक्त उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

इसीप्रकार तत्त्व की परिभाषा के द्वारा अपने द्रव्य में ही स्वतत्त्व ज्ञायक ध्रुव) की खोजपूर्वक, पर्यायगत हेय-उपादेयरूप भावों की पहिचान होती है। अपने जीवतत्त्व (ध्रुव) की यथार्थ पहिचान बिना, उपादेयरूप भाव क्या हैं, तथा हेयरूप भाव क्या हैं — इन सबके यथार्थ परिज्ञान बिना आत्मा को शान्ति का मार्ग प्राप्त हो नहीं सकेगा। आत्मा का चरम लक्ष्य तो एकमात्र निराकुलतारूपी सुख व शान्ति प्राप्त करना है।

इसप्रकार उपरोक्त परिभाषा के अनुसार हमारे ऊपर दो जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं — **एक तो जीवतत्त्व का स्वरूप समझना दूसरा जैसा जीवतत्त्व का स्वभाव है उस रूप परिणमन कैसे हो और उसके विपरीत परिणमन क्यों हो रहा है; उसका कारण जानकर कारणों का अभाव कैसे हो? उसके समझे बिना उनका अभाव करना संभव नहीं हो सकेगा।**

यह बात अवश्य है कि द्रव्य की यथार्थ समझपूर्वक आत्मार्थी जब तक अपने अनुसंधान का क्षेत्र सीमित नहीं कर लेता, तब तक तत्त्व की व्याख्या के माध्यम से स्वतत्त्व को समझने का पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं हो सकता। अत: अपनी आत्मिक शान्ति अर्थात् निराकुल सुख प्राप्त करने के लिए सारे जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र ज्ञायकध्रुव तत्त्व अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवतत्त्व की खोज करने से ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। यही एकमात्र कर्त्तव्य है।

इसप्रकार जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व के अन्तर को समझकर मात्र अपने जीवतत्त्व में ही अपनापन स्थापन कर हेयभावों का अभाव एवं उपादेय भावों को प्राप्त करते हुए पूर्णदशा प्राप्त करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

जीवतत्त्व को खोजने के लिए सात तत्त्वों की समझ आवश्यक

मेरा स्वभाव भी सिद्ध भगवान जैसा है; अतः ऐसा ही परिणमन होना मेरा स्वभाव है और वही तत्त्वार्थ है। प्रत्येक द्रव्य का जो स्वभाव हो, उस रूप ही परिणमना उसका स्वभाव है। मैं भी एक जीवद्रव्य हूँ; इसलिए मुझे मेरे आत्मद्रव्य के अन्दर ही अपने स्वभाव एवं स्वाभाविक भावों एवं विभाव भावों को समझकर अपने स्वतत्त्व को खोज निकालना है, ताकि उसमें ही मुझे मेरापन भासने लगे और अन्य जिनमें मेरापना मान रखा है, उन सबसे मेरे पने की मान्यता का अभाव हो सके।

जब अपने द्रव्य के अन्तर में खोज करते हैं तो उसमें एक तो स्थायी भाव, नित्यभाव, ध्रुव एकसा बना रहनेवाला भाव ज्ञात होता है और उसी समय परिवर्तनस्वरूप अस्थाई, अनित्य, अध्रुव, हर क्षण में बदल जाने वाले भाव भी अनुभव में आते हैं। उन अनित्यभावों के ही सात प्रकार हैं, जिनको पर्याय कहा जाता है और उनका ही सात तत्त्वों अथवा नव पदार्थों के नाम से जिनवाणी में वर्णन है, अतः स्वतत्त्व की खोज के लिए तत्त्वों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है — **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** तथा **"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"** सूत्र के द्वारा, तत्त्वों के माध्यम से जीव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर, पहिचानकर, यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन कहा है। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही तत्त्वार्थ श्रद्धान से होता है। आचार्यश्री ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ ही **"जीवाजीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्"** सूत्र के द्वारा सात तत्त्वों का नामकरण करके परिचय भी करा दिया है। इन्हीं सात तत्त्वों के विशद् विवेचन करने वाली उनकी रचना का नाम तत्त्वार्थसूत्र है। अत: उपरोक्त सात तत्त्वों के स्वरूप को उग्र रुचिपूर्वक अपनी आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के अभिप्राय से एकाग्रचित्त एवं पूर्ण मनोयोगपूर्वक समझना चाहिए, क्योंकि मोक्षमार्ग प्रारम्भ करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

"सुखी होने का उपाय भाग-२" के पृष्ठ ६८ से ८६ तक के विषय को इसी विषय को समझने के लिए अवश्य पुनरावृत्ति कर लेना चाहिए। उक्त विषय की वहाँ "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से चर्चा की गई है। विस्तार भय से यहाँ पुन: चर्चा नहीं की गई है।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए इन सात तत्त्वों की यथार्थ समझ ही एकमात्र उपाय है। समस्त द्वादशांगवाणी का भी मुख्य उद्देश्य सात तत्त्वों की यथार्थ समझ द्वारा जीव तत्त्व (ज्ञायक ध्रुवभाव) के स्वरूप की पहिचान एवं उसमें अहंपना स्थापन कराने का है। इसलिए जिनवाणी में भी इन सात तत्त्वों पर ही विस्तार से चर्चा है। इस पुस्तक का भी मुख्य उद्देश्य एवं विषय "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना" यही है। मुझे मेरी आत्मा रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी आदि दिखने पर भी मैं ज्ञानस्वभावी कैसे हूँ — इस विषय को अत्यन्त रुचि एवं मनोयोगपूर्वक हमें विस्तार से समझना चाहिये।

साततत्त्वों को यथार्थ समझने की विधि

आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ६ में उपरोक्त साततत्त्वों के यथार्थ स्वरूप कों समझने की विधि **"प्रमाणनयैरधिगम:"** सूत्र के द्वारा प्रतिपादित की है। **अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा ही तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझ में आ सकता है।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा सुनने मात्र से ही एक घबराहट खड़ी हो जाती है; अज्ञानी का मानना है कि प्रमाण और नयों का विषय तो विद्वानों की ही समझ में आ सकता है, हमारी बुद्धि इतनी कुशाग्र नहीं है कि हम नयादि के विषय को समझ सकें? लेकिन उनके यथार्थ प्रयोग बिना तत्त्वों का यथार्थ निर्णय हो नहीं सकता, इसप्रकार तो हमको आत्मज्ञान प्राप्त करना असंभव ही हो जावेगा?

भाई ! ऐसा नहीं है, क्योंकि सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच को भी सम्यग्दर्शन तो हो ही सकता है और होता भी है और यह भी सत्य है, प्रमाणनय के ज्ञान बिना यथार्थ निर्णय नहीं होता और यथार्थ निर्णय के बिना सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। अतः यह नियम तो सबके लिए एक समान ही लागू होगा न? इससे ज्ञात होता है कि प्रमाणनय का यथार्थ स्वरूप समझने की चेष्टा ही नहीं की। जिसको तिर्यंच भी समझ सकता है, वह कठिन कैसे हो सकता है; इसलिए सर्वप्रथम हमको यह समझना चाहिए यथार्थ निर्णय करने के लिए, नय की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है?

यथार्थ निर्णय करने में नयादि का ज्ञान आवश्यक क्यों?

उपरोक्त विषय को समझने के भी पहले सबसे पहिले हमको उस वस्तु को समझना चाहिए जिसका हमें निर्णय करना है और जिसके निर्णय करने के लिए नयादि के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जब हम अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हैं तो उसमें दो पक्ष हमारे सामने उपस्थित रहते हैं। एक तो नित्य एकरूप बने रहने वाला स्थाई ध्रुवपक्ष, दूसरा अनित्य क्षण-क्षण में पलटनेवाला, अध्रुवपक्ष। इसप्रकार जब मेरे ज्ञान के सामने दो पक्ष एक साथ उपस्थित होते हैं, तो मेरे सामने समस्या खड़ी हो जाती है कि इन दोनों में से किस पक्ष रूप मैं अपने आप को मानूँ। क्योंकि दो के रूप में तो मैं अकेला कैसे हो सकता हूँ? अतः मुझे इन दोनों में से किसी एक पक्ष को ही अपनापन स्थापन करने के लिए चुनना पड़ेगा। अतः चाहे मनुष्य हो अथवा तिर्यंच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, सब ही सैनी पंचेन्द्रिय होने से मन के द्वारा निर्णय तो कर ही सकते हैं; उनके सामने दोनों परिस्थितियाँ ज्ञान में उपस्थित हैं, ऐसी स्थिति में इनका भेदज्ञान करके यथार्थ निर्णय करने की अनिवार्यता तो सबको है ही।

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के स्वरूप की यथार्थ समझ एवं निर्णय करने की पद्धति का नाम ही तो "प्रमाणनयैरधिगमः" है। यहाँ ध्रुवपक्ष को सामान्य एवं अध्रुवपक्ष को विशेष कहा है। इससे यह तो निश्चय होता है कि प्रमाण-नय का नाम सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिए, यह तो आत्मस्वरूप को समझने की एक पद्धतिमात्र है; जिसका प्रयोग प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी कर सकता है और करता भी है। इसलिए यह पद्धति कठिन कैसे हो सकती है? अतः उनका स्वरूप समझना चाहिये।

प्रमाणनयैरधिगमः

वस्तु अर्थात् आत्मा में दो पक्ष निरन्तर विद्यमान हैं एक तो नित्यपक्ष जिसको अध्यात्म में द्रव्य के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, इसही नित्यपक्ष को ध्रुव, त्रिकाली, ज्ञायक आदि अनेक नामों से भी सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार अनित्य पक्ष को अध्यात्म में पर्याय के नाम से सम्बोधित किया गया है, इसही को अनित्यभाव, अध्रुवभाव, पलटजानेवालाभाव, क्षणभंगुरभाव आदि अनेक नामों से भी जिनवाणी में सम्बोधित किया गया है। हम भी वर्तमान प्रकरण में नित्यभाव को द्रव्य के नाम से तथा अनित्यभाव को पर्याय के नाम से सम्बोधित करेंगे।

वस्तु अर्थात् आत्मा तो द्रव्य एवं पर्याय स्वरूप; एकसाथ एक ही समय विद्यमान है, अतः सर्वप्रथम दोनों स्थितियों सहित सम्पूर्ण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना पड़ेगा। उसको समझने की विधि का नाम ही प्रमाण ज्ञान है अर्थात् द्रव्य गुण पर्याय से युक्त सम्पूर्ण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने की विधि को ही प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय करना कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब द्रव्य-गुण-पर्याय युक्त समग्र वस्तु अर्थात् आत्मा को समझ लेने पर भी उनमें से "मैंपना" किसमें स्थापन किया जावे, इसके लिए विधि निषेध की दृष्टिपूर्वक दोनों पक्षों की अपेक्षाओं को समझते हुए आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की विधि का नाम ही नयज्ञान है। प्रमाण द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु के दोनों पक्षों में से, "मैंपना" किसमें माना जावे, इस उद्देश्य से हेय उपादेय की बुद्धिपूर्वक यथार्थ निर्णय करना होता है। इसी विधि का नाम नयज्ञान के द्वारा भेदज्ञान करने की पद्धति कही गई है।

जब आत्मा में एक ही साथ द्रव्यपक्ष और पर्यायपक्ष दोनों विद्यमान हैं। तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए, दोनों में से किसी एक को मुख्य करना ही होगा, उस समय दूसरे पक्ष को गौण रह ही जावेगा, ऐसा करे बिना उसका स्वरूप समझ में नहीं आ सकेगा। अतः जब द्रव्यपक्ष को मुख्य बनाया जाता है, उस समय की ज्ञानपर्याय को द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है और जब पर्यायपक्ष के द्वारा वस्तु को समझने के लिए, पर्यायपक्ष को मुख्य किया जाता है, उस समय द्रव्यपक्ष गौण रह जाता है तथा उस ज्ञानपर्याय का नाम पर्यायार्थिकनय है। इसप्रकार द्रव्यपर्यायात्मक एक ही वस्तु को समझने के लिए उक्त पद्धति का प्रयोग अनिवार्य है।

इसप्रकार मुख्य गौण व्यवस्था के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना ही नयज्ञान का यथार्थ प्रयोग है। इसलिए नय आदि का ज्ञान विद्वानों के लिए है, ऐसा समझकर इस पद्धति की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि इस पद्धति के यथार्थ उपयोग के बिना आत्म स्वरूप को समझना संभव नहीं है।

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु अर्थात् आत्मा का स्वरूप, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनय के माध्यम से समझ लेने पर भी, आत्मिक शान्ति अर्थात् वीतरागता प्राप्त करने रूप अपना प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता; अतः उसकी सिद्धि के लिये अर्थात् उसको प्राप्त करने के लिए, अध्यात्म पद्धति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के निश्चयनय एवं व्यवहारनयों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। निश्चय, व्यवहारनय का मूल उद्देश्य ही मात्र अपना प्रयोजन सिद्ध कराना है। आत्मा का प्रयोजन तो एकमात्र वीतरागता अर्थात् रागद्वेष के अभाव से उत्पन्न होनेवाली निराकुलतारूपी शान्ति, सुख प्राप्त करना ही है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक वस्तु में से जिस समय जिसको मुख्य करना होता है, उसी को निश्चय कहा जाता है और अन्य अपने प्रयोजन के लिए उपयोगी नहीं होने से स्वतः गौण हो जाते हैं, लेकिन वे आत्मा में ही विद्यमान रहने से उनको भी आत्मा के ही भाव कह दिया जाता है। अतः ऐसे भावों को व्यवहार कहा जाता है। इसप्रकार अपेक्षाकृत जानने वाले ऐसे ज्ञान को निश्चयनय तथा व्यवहारनय कहा जाता है। इसप्रकार द्रव्यपर्यायात्मक स्वद्रव्य में ही अपने वीतरागता रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए, मुख्य गौण करता हुआ आत्मार्थी यथार्थ मार्ग समझ लेता है।

उपरोक्त विषय की विस्तार से चर्चा **सुखी होने के उपाय भाग-२ पृष्ठ ९६ से "प्रमाणनयैरधिगमः" शीर्षक प्रकरण के अन्तर्गत की गई है तथा इसी पुस्तक के भाग-३ में पृष्ठ ४७ से ६१ तक "नयज्ञान एवं उसकी उपयोगिता" प्रकरण में एवं इसी भाग के पृष्ठ ८८ से १०५ तक "निश्चयनय एवं व्यवहारनय" शीर्षक प्रकरण में की गई है।** आत्मार्थी को उपरोक्त प्रकरणों के अध्ययन द्वारा इस विषय को स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है।

अपने आत्मस्वरूप की यथार्थ स्थिति समझने के लिए आत्मा के द्रव्य एवं पर्याय दोनों पक्षों की स्थिति, सम्बन्ध एवं अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसको मुख्य किया जावे और किसको गौण किया जावे एवं हेय उपादेय स्थिति का यथार्थ ज्ञान करे बिना पुरुषार्थ की यथार्थ दिशा कैसे बन सकेगी? जिनवाणी में कथन तो अनेक स्थानों पर अनेक अपेक्षाओं को लेकर आते हैं। अपने प्रयोजन की सिद्धि की मुख्यता से उन कथनों के अभिप्राय को समझने के लिए उक्त नयादि की सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः उक्त विषय को कठिन मानकर एवं विद्वानों की चीज कहकर उपेक्षा करने से अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझने में सफलता मिलना अत्यन्त कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है।

जीवतत्त्व का स्वरूप

उपरोक्त नयादि के ज्ञान द्वारा हमको हमारे जीवतत्त्व की पहिचान करनी है, वह जीवतत्त्व कौन है, उसका स्वरूप क्या है उसके पहिचानने से क्या लाभ होगा इत्यादि का ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि इनका पर्याप्त ज्ञान हुए बिना उसको कैसे पहिचाना जा सकता है?

आत्मा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक एक अभेद वस्तु है, उस एक अभेद आत्मवस्तु के ही सदैव एकरूप बने रहने वाले ध्रौव्यात्मक स्थाईपक्ष को द्रव्य कहा गया है एवं उसी वस्तु के सदैव पलटते रहने वाले अस्थाईपक्ष को पर्याय कहा गया है। इन दोनों पक्षों की समुदायरूप अभेदवस्तु के ही यथार्थ स्वरूप का, सात तत्त्वों के माध्यम से परिचय कराया गया है। उनमें से स्थाई—ध्रुवपक्ष तो जीवतत्त्व है और जीव की पर्यायें आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व हैं। इसप्रकार दोनों पक्षों के समुदायरूप आत्मा ही एक वस्तु है। अजीवतत्त्व ही ऐसा है, जो आत्मा से अन्य होते हुए भी; विश्व में अपना अस्तित्व बनाए हुए विद्यमान है और परज्ञेयरूप से आत्मा के ज्ञान में ज्ञात भी होते हैं। अतः अजीव को भी साततत्त्वों में गर्भित किया गया है। क्योंकि ज्ञान में ज्ञात होने पर आत्मा को इनमें एकत्व होना संभव है, अतः उसके निवारण के लिए उन्हें परज्ञेय के रूप में स्वीकार करते हुए भी पर होने से उनके प्रति उपेक्षाबुद्धि बनी रहे, इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए सात तत्त्वों में अजीवतत्त्व का समावेश कर, उसका भी यथार्थ ज्ञान कराना आवश्यक है।

यह तो पहिले निर्णय कर चुके हैं कि आत्मा का स्थाई पक्ष, नित्यपक्ष, नहीं पलटनेवाला पक्ष, जिसे ध्रुव अथवा द्रव्य के नाम से जिनवाणी में सम्बोधित किया गया है वह जीवतत्त्व है और अस्थाईपक्ष, अनित्यपक्ष,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षण-क्षण में पलटनेवाला पक्ष, जिसको जिनवाणी में पर्याय के नाम से कथन किया गया है, उसही के भेद ये पाँच तत्त्व — आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं। इनमें से हमको पहिले नित्यपक्ष वाले जीवतत्त्व का स्वरूप समझना है।

हमारे आत्मा में नित्यपक्ष एवं अनित्यपक्ष दोनों एकसाथ विद्यमान होते हुए भी दोनों में विषमता है। इस विषमता के बीच फंसे हुए जीवतत्त्व को समझने में ही कठिनता प्रतीत होती है। अतः हमारे जीवतत्त्व का स्वरूप समझने के लिए हमें ऐसी किसी आत्मा को खोजना पड़ेगा जिसमें से विषमता का अभाव होकर पर्याय भी द्रव्य के समान हो जाने से आत्मा के स्थाईपक्ष एवं अस्थाईपक्ष का अन्तर समाप्त हो गया हो। ऐसी आत्मा का स्वरूप, स्थाईपक्ष से देखो तो भी द्रव्य (ध्रुव) जैसा ही दिखेगा और अस्थाईपक्ष की ओर से देखो तो भी द्रव्य (ध्रुव) जैसा ही दिखेगा अतः ऐसी आत्मा का स्वरूप ही मेरे जीवतत्त्व के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान करा सकेगा।

उपरोक्त समस्या का समाधान श्रीमद् आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार की गाथा ८० में निम्नप्रकार किया है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहों खलु जादि तस्स लयं॥ १८०॥

उपरोक्त गाथा में आचार्यश्री का भी यही निर्देश है कि अपने आत्मा-जीवतत्त्व का स्वरूप समझने के लिए भगवान अरहंत की आत्मा को द्रष्टान्त के रूप में मानकर समझना पड़ेगा, क्योंकि उनके आत्मा की पर्याय, द्रव्य के समान हो गई है अर्थात् उनकी आत्मा का व्यक्त स्वरूप (पर्याय का स्वरूप) ही हमारे जीवतत्त्व का स्वरूप है। इसप्रकार हमारी पर्याय और द्रव्य में विषमता विद्यमान रहते हुए भी, हम भगवान अरहंत की आत्मा की पर्याय का स्वरूप समझने से, अपने जीवतत्त्व का स्वरूप समझ सकते हैं। इसकी विस्तार से चर्चा भाग-३ में की जा चुकी है पुनरावृत्ति एवं विस्तारभय से पुनः चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है, लेकिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मार्थी जीव को इस सन्दर्भ में उक्त विषय का पुनः अध्ययन कर लेना चाहिए। विशेषरूप से भाग-३ के पृष्ठ १७ से ४५ तक एवं पृष्ठ १०८ से १३३ तक तो अवश्य ही अनुशीलन करना चाहिए।

उपरोक्त अध्ययन के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप भगवान अरहंत के समान है। भगवान अरहंत का पर्याय सहित द्रव्य जैसा वर्तमान में प्रगट प्रकाशमान है, वैसा ही मेरा जीवतत्त्व भी है। जीवतत्त्व का निर्णय करने वाले आत्मार्थी के ज्ञान में यह स्पष्ट रहना चाहिए कि जीवतत्त्व तो मेरे आत्मद्रव्य का नित्यपक्ष-ध्रुवपक्ष है, वह अपना मानने योग्य है और बाकी रहे छहों तत्त्व मेरे उसी आत्मद्रव्य के अनित्यपक्ष-उत्पाद-व्ययपक्ष हैं, उनमें से आस्रव-बंध का अभाव कर, संवर-निर्जरा प्रगट कर, मोक्षदशा अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त होगी। लेकिन जीवतत्त्व का स्वरूप समझते समय, पर्यायपक्ष अत्यन्त गौण रहना चाहिए, अन्यथा जीवतत्त्व का स्वरूप भी स्पष्ट समझ में नहीं आ सकेगा।

लेकिन जब प्रमाण के विषयभूत जीवद्रव्य का स्वरूप समझना हो तो ध्रुवपक्ष एवं उत्पाद- व्ययपक्ष (अध्रुवपक्ष) दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए ही उसका स्वरूप समझना होता है। क्योंकि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ही द्रव्य है। अतः जीव द्रव्य का स्वरूप तो साततत्त्वमय ही है, उसमें नित्यपक्ष-ध्रुवपक्ष का परिचायक जीवतत्त्व है एवं अजीवतत्त्व तो जीव से भिन्न ही है, बाकी रहे पर्यायपक्ष के परिचायक बाकी पांचों तत्त्व हैं; उन सब को सम्मिलित करके समझने से ही जीव का यथार्थ ज्ञान संभव हो सकेगा। लेकिन जब उसी जीवद्रव्य के दोनों पक्षों में से अकेले जीवतत्त्व का ही स्वरूप समझना हो तो नित्यपक्ष को मुख्य करके अनित्यपक्ष (जीवद्रव्य में विद्यमान रहते हुए भी) को अत्यन्त गौण रखना होगा; तभी जीवतत्त्व का स्वरूप समझ में आ सकेगा। नित्यपक्ष अर्थात् जीवतत्त्व को जाननेवाले ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय एवं अनित्यपक्ष अर्थात् पर्यायों एवं गुण भेदों के जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। तात्पर्य यह है कि प्रमाणज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु को ज्ञान में लेकर उसमें से, अपना प्रयोजन जो अहंपना स्थापन करना है वह किसमें करना; इसकी सिद्धि के लिए नित्यपक्ष-ध्रुव को समझना, उसमें द्रव्यार्थिकनय मुख्य होगा। लेकिन हेय के ज्ञान द्वारा आस्रव बंध छोड़ने योग्य एवं उपादेय के ज्ञान द्वारा संवर निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व प्रगट करने के प्रयोजन की सिद्धि के लिए, उस ही वस्तु को समझा जावेगा उस समय द्रव्यार्थिकनय का विषय गौण हो जाता है। इसप्रकार मुख्य-गौण की व्यवस्था के द्वारा ही समग्र वस्तु का ज्ञान प्रगट होता है।

हमारा मुख्य विषय है जीवतत्त्व का स्वरूप समझना। ऊपर हमने चर्चा की है कि भगवान अरहंत के जीवद्रव्य का जो पर्याय में प्रगट वर्तमान स्वरूप है, वही मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप है और वह जीवतत्त्व तो द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अत: इसके समझने के लिए हमको हमारे ही जीवद्रव्य के अनित्यपक्ष को जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, अत्यन्त गौण रखना पड़ेगा। लेकिन भगवान अरहंत के स्वरूप को समझने के लिए प्रमाणज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि उनका अनित्यपक्ष भी, नित्यपक्ष के समान ही हो चुका है। दोनों में कोई असमानता नहीं रही; अत: मेरे नित्यपक्ष का स्वरूप बताने वाला मॉडल अर्थात् आदर्श अरहंत का आत्मा ही हो सकता है और है भी; क्योंकि मेरे अनित्यपक्ष अर्थात् पर्याय में जो असमानता अथवा विषमता विद्यमान है, उसको मैंने जीवतत्त्व का स्वरूप समझने के लिए अत्यन्त गौण किया हुआ है, इसलिये उस विषमता की उपस्थिति भी मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप समझने में बाधक नहीं हो सकती। तब मेरे सामने तो एकमात्र नित्यपक्ष अर्थात् जीवतत्त्व ही समझने के लिए उपस्थित रह जाता है, जो कि द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

इसप्रकार उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट समझ में आता है कि मुझे मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप समझने के लिए भगवान अरहंत के आत्मा के स्वरूप को समझना ही पड़ेगा, इससे सरल अन्य कोई मार्ग नहीं है। अत: मेरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवतत्त्व का स्वरूप क्या है? इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे, क्योंकि अपने अस्तित्व का स्वरूप समझे बिना दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

भेदज्ञान का आधार-जीवतत्त्व

उपरोक्त सम्पूर्ण विषय को गम्भीरता से अध्ययन करने का तात्पर्य यह निर्णय करना है कि "मैं कौन हूँ? और मेरा स्वरूप क्या है?" जब तक अपने स्वरूप को यथार्थ समझकर, अकाट्य निर्णय नहीं करेगा तो अन्य सबसे भिन्न अपने आपको कैसे अनुभव कर सकेगा? अतः आत्मार्थी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि जैसे भी बने, कितना भी समय लगे, कितना भी कष्ट उठाना पड़े, कितना भी अध्ययन करना पड़े, सत् समागम के लिए कितना भी भटकना पड़े, एकमात्र अपने स्वरूप को समझकर उसको ही "मैं" के रूप में इतनी दृढ़ता के साथ स्वीकार करे कि कोई कितना भी चलायमान करे तो भी अपनी मान्यता, श्रद्धा, विश्वास पर अडिग बना रहे, सुमेरु के समान अचल बना रहे। क्योंकि जब तक अपने स्वरूप का निःशंक रूप से श्रद्धा-विश्वास नहीं जमेगा, तब तक आत्मा में दिखने वाली अनेक प्रकार की विकृतियों से अपने को भिन्न कैसे मान सकेगा? अर्थात् भेदज्ञान नहीं हो सकेगा। यथार्थ भेदज्ञान के अभाव में यथार्थ मार्ग प्रारम्भ ही नहीं होगा। यह भेदज्ञान ही पूर्णदशा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने इस भेदज्ञान की महिमा एवं उपयोगिता समयसार कलश १३० तथा १३१ में निम्नप्रकार वर्णन की है।

(अनुष्टुभ)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्परांच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥ १३०॥
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥

अर्थ — यह भेदविज्ञान अवच्छिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से) तब तक भाना चाहिए जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जाये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ — यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए। एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है। जब तक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये तब तक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिये।

अब पुनः भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हैं —

अर्थ — जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं वे उसी के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं।

भावार्थ — अनादिकाल से लेकर जब तक जीव को भेदविज्ञान नहीं है तब तक वह कर्म से बंधता ही रहता है — संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है; जो जीव भेदविज्ञान को भाता है वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है — मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कर्म-बंध एवं संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

उपरोक्त भेदविज्ञान का मूल आधार तो अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही है। अपने स्वरूप की निःशंक एवं अचलित श्रद्धा हुए बिना अन्य से किस आधार से भेदविज्ञान कर सकेगा? जैसे गेहूँ में से अन्य वस्तुओं को भिन्न करने के लिए, गेहूँ के स्वरूप की निःशंक एवं अचलित श्रद्धा होती है; तब ही उसमें मिली हुई अन्य वस्तुओं को भिन्न किया जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अज्ञानी को ज्ञान में अनेक प्रकार के ज्ञेय ज्ञात होने पर, अपना स्वरूप ही पर ज्ञेयों जैसा दिखने लगता है। आत्मा उन ज्ञेयों में ऐसा एकमेक हो गया ज्ञात होता है कि अन्य कोई स्वरूप हो सकता है, ऐसी शंका भी उत्पन्न नहीं होती। ऐसी स्थिति में ज्ञानी बनने के लिए अपने स्वरूप की निःशंक श्रद्धा ही एकमात्र उपाय है। जिसके द्वारा आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानपर्याय में ज्ञात अनेक ज्ञेयों में से भी, यथार्थ भेदज्ञान करके अपने जीवतत्त्व को पहिचान लिया जाता है। अज्ञानी अपने आपको अनादिकाल से पर्याय जितना व जैसा ही मानता चला आ रहा है, ऐसे जीव को यथार्थ स्वरूप के ज्ञान द्वारा, ऐसी मान्यता का अभाव कराके अपने जीवतत्त्व में ही अहंबुद्धि अर्थात् जीवतत्त्वरूप ही अपना अस्तित्व स्वीकार कराना है।

'चेतना' जीवतत्त्व का यथार्थ लक्षण

जीवतत्त्व को पहिचानना इसलिए भी कठिन प्रतीत होता है कि ये पर्यायें तो व्यक्त हैं इन्द्रियज्ञान का विषय हैं और पर्यायों की भीड़-भाड़ के पीछे छिपी हुई वह आत्मज्योति तो अव्यक्त है, इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है।

अतः वह जीवतत्त्व इन्द्रिय अथवा मन के द्वारा प्रवर्तित ज्ञान का विषय नहीं होने से व्यक्त (प्रगट) नहीं है। जहाँ-जहाँ इन्द्रियज्ञान शब्द आवे उसमें मनजन्यज्ञान को भी सम्मिलित समझ लेना चाहिए। वर्तमान में हमारे पास तो मात्र इन्द्रियज्ञान होने से, हमको जीवतत्त्व को पहिचानना कठिन लग रहा है। लेकिन जब तक उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होकर दृढ़ता के साथ स्वीकार नहीं हो जावेगा, तब तक हम उसको पहिचानकर, भेदज्ञान द्वारा भिन्न कैसे कर सकेंगे? इसही तथ्य के समर्थन में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत समयसार ग्रन्थ जीवाजीवाधिकार की गाथा नं. ४९ पठनीय एवं मननीय है। यही गाथा आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में गाथा १७२, नियमसार के शुद्धभाव अधिकार में गाथा ४६, पंचास्तिकाय के मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णन की गाथा १२७, इसीप्रकार अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में गाथा नं. ६४ पर प्रस्तुत की है। आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों परमागमों में ज्यों की त्यों अविकल रूप से प्राप्त होने वाली यह एक ही गाथा है और यह ही गाथा धवल ग्रन्थ में भी मिलती है, जो कि पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन करने वाला ग्रन्थ है। इससे इस गाथा के विषय की महत्ता ख्याल में आनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा —

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ४९ ॥

हिन्दी पद्यानुवाद —

जीव चेतना गुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका ग्रहण नहिं है लिंग से॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ — हे भव्य ! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा चेतना जिसका गुण है ऐसा, शब्दरहित, किसी चिन्ह से ग्रहण नहीं होने वाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा जान।

पंचास्तिकाय के मोक्षमार्ग प्रपंच अधिकार में इस गाथा का प्रयोग जीवद्रव्य को उसके लक्षणों के माध्यम से छह द्रव्यों से, भिन्नता करने की दृष्टि से हुआ है। प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार में इस ही गाथा का प्रयोग स्वज्ञेय तत्त्व का स्वरूप कैसा है उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए हुआ है, इसीप्रकार नियमसार के शुद्धभाव अधिकार में अपने स्वतत्त्व का शुद्धोपयोग दशा में जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, अनुभव के आधार से अपने त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा का स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए इस ही गाथाा का प्रयोग हुआ है और समयसार में श्रद्धा का श्रद्धेय जो अभी तक श्रुत परिचित अनुभूत नहीं है उसके स्वरूप का अस्तिनास्तिपूर्वक यथार्थ ज्ञान कराकर उसमें अहंपने की श्रद्धा उत्पन्न कराने की मुख्यता से इस गाथा का प्रयोग हुआ है। टीकाकार आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने इस गाथा को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझकर इस गाथा के कठिन से कठिन तथा छुपे हुए तथ्यों को स्पष्टीकरणपूर्वक उजागर कर दिया है। इस गाथा के नास्तिपक्ष के ८ बोलों में से, अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अस्पर्श तथा अनिर्दिष्ट संस्थान इन छह से रहित आत्मा को समयसार गाथा ४९ की टीका में सिद्ध किया है अतः इनके माध्यम से आत्मा नहीं पहचाना जा सकता। साथ ही आत्मा अव्यक्त तथा अलिंगग्रहण भी है, इन दोनों का अभिप्राय समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है; टीकाकार आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने समयसार में अव्यक्त का स्पष्टीकरण छह हेतुओं द्वारा बहुत गम्भीरतापूर्वक किया है। इसीप्रकार आठवें बोल अलिंगग्रहण का मर्म २० हेतुओं के द्वारा प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में स्पष्ट कर सिद्ध किया है कि आत्मा किसी चिन्ह के द्वारा पहिचानने में नहीं आ सकता, अतः आत्मा किसी भी लिंग (चिन्ह) रहित है। इन दोनों ही विषयों पर हर एक बोल का मर्म पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने बहुत गम्भीरतापूर्वक चिन्तन, मनन एवं अनुभव करके विस्तारपूर्वक प्रवचनों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है जो पुस्तकाकार प्रकाशित भी हो चुके हैं। पूज्य स्वामीजी ने अगर इन दोनों विषयों को इतने विस्तारपूर्वक स्पष्ट नहीं किया होता तो उनका मर्म समझना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। अगर उक्त स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं हुआ होता तो आत्मार्थीजन अपनी रुचि में किंचित् भी परिवर्तन करे बिना, अपनी कल्पना द्वारा आत्मा को व्यक्त बनाकर, एकान्त में ध्यान लगाकर कल्पित विषय में एकाग्र होकर, आत्मानुभव करने के प्रयास में संलग्न होकर, आत्मलाभ के मार्ग से और भी ज्यादा दूर हो जाते। पूज्य स्वामीजी ने उपरोक्त टीकाओं का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण करके हम सब पर महान उपकार किया है। इसप्रकार उपरोक्त गाथा एवं उसके स्पष्टीकरण, हमारी आत्मा का अस्तिनास्तिपूर्वक यथार्थ स्वरूप समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि आचार्यश्री ने इस ही गाथा का पाँचों परमागमों में उपयोग किया है। अतः हमें भी इसका महत्व समझते हुए गम्भीरतापूर्वक चिन्तन, मनन करके अपने आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए।

उपरोक्त गाथा में नास्तिपक्ष के आठ बोलों के अतिरिक्त आत्मा के अनुभव के लिए सबसे महत्वपूर्ण अस्तिपक्ष — उसका भी एक बोल दिया है। एक चेतना ही आत्मा का ऐसा गुण एवं लक्षण है जिसके द्वारा ही आत्मा पहचाना जा सकता है। गाथा का उद्देश्य ही आत्मा की पहचान कराने का है। आत्मा किसी समय भी कहीं भी चाहे निगोद में हो अथवा सिद्ध में हो चेतना ज्ञान-दर्शन के बिना नहीं रहता। चेतना की पर्याय, पर्याय का स्वामी ऐसे चेतना गुण ही हैं। गुण-गुणी से अभिन्न रहता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः ज्ञान-दर्शन की पर्याय ही आत्मा को प्रसिद्ध करती है। अतः हमारे ज्ञान पर्याय के माध्यम से आत्मा जाना जा सकता है, श्रद्धा में भी आ सकता है और उसका अनुभव भी हो सकता है। नास्ति पक्ष के आठ बोलों के माध्यम से आत्मा को पहचान कराने का प्रयास असफल होता है और अस्तिपक्ष चेतना के द्वारा आत्मा का अनुभव हो सकता है।

प्रश्न – उपरोक्त गाथा को ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पाँचों परमागमों में अविकल रूप से क्यों दिया?

समाधान – यथार्थतः विचार किया जावे तो इस गाथा में, जीवतत्त्व का स्वरूप अस्तिनास्तिपूर्वक स्पष्ट बताया गया है। जब तक हमको जीवतत्त्व का स्वरूप ही यथार्थ समझ सहित श्रद्धा में अपनेपने पूर्वक अपना स्थान नहीं बना लेगा तब तक आत्मदर्शन हो ही नहीं सकेगा और उसके अभाव में मोक्षमार्ग भी प्रारम्भ नहीं होगा। अतः मोक्षार्थी को अपने अस्तित्व का अर्थात् अपने जीवतत्त्व का स्वरूप, हर अपेक्षा से स्पष्ट समझ में आना चाहिए, तभी समीचीन श्रद्धा का जन्म हो सकता है। यही कारण है कि आचार्यश्री ने पाँचों परमागमों में अलग-अलग दृष्टिकोणों के माध्यम से एक जीवतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही इस गाथा का उपयोग किया है।

प्रश्न – आत्मा तो अमूर्तिक है, वह इन्द्रियज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? इन्द्रियज्ञान का विषय तो मूर्तिक ही होता है और जो मूर्तिक होता है, वही इन्द्रियज्ञान का विषय बनता है।

समाधान – इसही को दृष्टिगत रखते हुए ही आचार्यश्री ने इस गाथा में अस्ति-नास्ति दोनों दृष्टिकोणों के माध्यम से जीवतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट किया है। अज्ञानी मनजनितज्ञान से अपनी कल्पना के द्वारा आत्मा का अनुभव करना चाहता है; लेकिन मन के विचारों द्वारा भी अगर आत्मा के स्वरूप की कल्पना की गई तो वह भी मनजनित ही होगा और मनजनितज्ञान, इन्द्रियज्ञान होने से उससे आत्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

अब हमें गाथा के अर्थ के माध्यम से अपने जीवतत्त्व का स्वरूप समझना है।

नास्तिपक्ष – (जिनके माध्यम से आत्मा को नहीं पहिचाना जा सकता है।)

अरस = आत्मा रसरहित है, अर्थात् रसना इन्द्रिय के द्वारा आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता।

अरूप = आत्मा रूपरहित है अर्थात् चक्षुइन्द्रिय के द्वारा नहीं पहिचाना जा सकता।

अगन्ध = आत्मा गन्धरहित है अर्थात् घ्राणइन्द्रिय के द्वारा नहीं पहिचाना जा सकता।

अशब्द = आत्मा शब्दरहित है अर्थात् कर्णइन्द्रिय के द्वारा भी नहीं पहिचाना जा सकता।

अस्पर्श = आत्मा स्पर्शरहित है अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा भी पहिचाना नहीं जा सकता।

अनिर्दिष्ट संस्थान = आत्मा का कोई आकार नहीं है अर्थात् शरीर का आकार आत्मा का आकार नहीं होने से किसी आकार के माध्यम से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता।

अव्यक्त = आत्मा व्यक्त नहीं है अर्थात् इन्द्रिज्ञान के द्वारा पहिचाना नहीं जा सकता तथा मन के विकल्पों द्वारा भी पहिचाना नहीं जा सकता। वह पर्यायों के भेदों में भी व्यक्त नहीं होता।

अलिंग ग्रहण = आत्मा चिन्हरहित है अर्थात् मन के द्वारा अनुमानपूर्वक भी आत्मा पहिचाना नहीं जा सकता।

इसप्रकार उपरोक्त आठों प्रकारों से भी आत्मा अनुभव में नहीं आता अतः उपरोक्त आठों प्रकारों से रहित आत्मा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानी, आत्मा का ज्ञान करने के लिए, उपरोक्त आठों प्रकारों में ही संलग्न रहता है, इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हो सकता है? ऐसी शंका भी खड़ी नहीं होती। फलतः उसका पूरा जीवन निरर्थक चला जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में थोड़े अभ्यास के द्वारा अपने को अभ्यासी मानने वाले व्यक्ति भी, उपरोक्त प्रकार के मनजनित विकल्पों के द्वारा आत्मा का अनुभव कर लेने की मान्यता रखते हैं। अथवा किसी चिन्ह की कल्पना करके उसके द्वारा आत्मा का अनुभव करने का प्रयास करते रहते हैं। अथवा अपनी पर्यायों में ही आत्मा को ढूढ़ते रहने के अभ्यास द्वारा, अथवा शास्त्राभ्यास के माध्यम से आत्मा का स्वरूप जानकर अनुमान के द्वारा भी आत्मा का अनुभव कर लेने के श्रम में निरन्तर संलग्न रहते हैं। इसप्रकार के अनेक पुरुषार्थों का उपरोक्त गाथा के द्वारा निषेध हो जाता है और स्पष्ट हो जाता है कि इन आठों प्रकारों के द्वारा आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। क्योंकि आत्मा में वे सब नहीं होने से आत्मा उनका विषय कैसे बन सकेगा।

इसप्रकार नास्तिपक्ष के आठ प्रकार बताकर उनके निषेध के साथ-साथ आत्मा का अनुभव कैसे किया जावे उसके समाधान स्वरूप उक्त गाथा में आचार्यश्री ने अस्तिपक्ष से भी आत्मा का स्वरूप बताया है।

अस्तिपक्ष – आत्मा चेतना गुण वाला है अर्थात् आत्मा (ज्ञान, दर्शन) स्वभाव वाला है। स्वभाव, स्वभाववान् से कभी किसी भी दशा में भिन्न नहीं हो सकता। अतः आत्मा को पहिचानने का कोई लक्षण हो सकता है तो मात्र एक चेतना (ज्ञान, दर्शन) ही लक्षण हो सकता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा से निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा को पहिचानने का मात्र एक ही लक्षण है वह है चेतना। उस चेतना का परिचायक एकमात्र उपयोग है। वह उपयोग दो प्रकार से परिणमित होता है एक तो दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग। समस्त ज्ञेयपदार्थ सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषेशात्मक है अतः उनको विषय (ज्ञान) करने वाला आत्मा का उपयोग भी दो प्रकार का होना ही चाहिए। अतः ज्ञेयों का अस्तित्व, भेद किए बिना सामान्यरूप से अभेदसामान्य को जाने उसको दर्शनोपयोग कहा गया है एवं उन्हीं ज्ञेयों को भेद-प्रभेद सहित अर्थात् विशेषों सहित जाने उसको ज्ञानोपयोग कहा है। आत्मा ज्ञान भी है एवं ज्ञेय भी है। इसप्रकार आत्मा की सामान्य विशेषात्मक जानने की प्रक्रिया ही उपयोग है, इसी को अभेदरूप से चेतना कहा है।

इसप्रकार आत्मा अर्थात् जीवतत्त्व के स्वरूप को समझने के लिए लक्षण चेतना कहा है।

प्रश्न — जिनवाणी में आत्मा को ज्ञानस्वरूपी ही क्यों कहा है, दर्शनोपयोगी होने की मुख्यता क्यों नहीं की गई?

समाधान — दर्शनोपयोग का विषय सामान्य होने से वह बुद्धिगम्य नहीं हो पाता। क्योंकि दर्शनोपयोग का जन्म ही मात्र विषय परिवर्तन में होता है, सामान्यांश बुद्धिगम्य नहीं हो पाने के कारण दर्शनोपयोग के माध्यम से आत्मा पहिचानने में नहीं आ सकता। ज्ञानोपयोग का विषय, विशेष अर्थात् भेदों सहित होने के कारण वह बुद्धिगम्य होता है अतः मात्र ज्ञान के व्यापार अर्थात् ज्ञानोपयोग से ही आत्मा की पहिचान हो सकना संभव है। यही कारण है कि जिनवाणी में ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की पहिचान होने का विधान है। इसको ही आत्मा को पहिचानने के लिए लक्षण बताया गया है, समयसार में पद-पद पर आत्मा को ज्ञानस्वभावी के नाम से ही सम्बोधित किया है।

जीवतत्त्व से अतिरिक्त छह तत्त्वों के सम्बन्ध में

उपरोक्त चर्चा के आधार से हमने जीवतत्त्व का स्वभाव जानकर, अपने आत्मद्रव्य में ही प्रगट जीवतत्त्व का स्वरूप समझा। अब हमारे आत्मद्रव्य में ही प्रगट बाकी छहतत्त्वों के सम्बन्ध में भी समझना आवश्यक है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

यह तो हम समझ ही चुके हैं कि मेरे आत्मद्रव्य में ही दो प्रकार के भाव हैं। एक तो स्थाईभाव और दूसरा अस्थाईभाव, जिसको हम पर्याय के रूप में समझ चुके हैं। द्रव्य तो "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तंसत्" है, अतः उपरोक्त नित्यभाव एवं अनित्यभाव का समुदायरूप ही द्रव्य है। उसमें स्थाईभाव ध्रुवभाव तो मैं जीवतत्त्व हूँ।

छहों तत्त्वों में अजीवतत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि अजीव तो मेरी उत्पादव्यय वाली पर्याय में भी नहीं है, क्योंकि चेतना गुण से रहित अजीव तत्त्व के रूप में मेरे द्रव्य में कैसे रह सकता है? अतः वह मेरा भाव नहीं होने से मेरा तत्त्व क्यों कहा जाना चाहिए? समाधान है, कि सात तत्त्वों में अजीवतत्त्व का समावेश, इस कारण किया गया है कि समस्त अजीव द्रव्यों का ज्ञान परज्ञेय के रूप में आत्मा की ज्ञान पर्याय में होता है। ज्ञानपर्याय आत्मा की पर्याय है, अतः उसको भी तत्त्वों में सम्मिलित करना आवश्यक था। आत्मा में अजीवद्रव्यों का ज्ञान होने पर अज्ञानी आत्मा उनमें एकत्व करता है। अतः उसके सम्बन्ध में यथार्थ स्थिति समझे बिना तत्त्वार्थज्ञान अधूरा रह जाता और उसके बिना ज्ञान श्रद्धान भी यथार्थता को कैसे प्राप्त होते?

अजीवतत्त्व

मेरे जीवतत्त्व के अतिरिक्त जो कुछ भी मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं; वे सभी मेरे से भिन्न परज्ञेय हैं। अतः (१) मेरे से भिन्न हैं (२) वे सभी अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं (३) वे स्वयं अपने-अपने में "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" हैं (४) उन सबके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न हैं, इत्यादि अनेक प्रकारों से अपने जीवतत्त्व का अस्तित्व उस सबसे भिन्न जानकर, मानकर उन सबके परिणमनों के प्रति उपेक्षाबुद्धि जागृत करें। यही अजीवतत्त्व की यथार्थ समझ है और यही समझना पर्याप्त है।

प्रश्न – वे परज्ञेय कौन-कौन हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर — मेरे जीवतत्त्व के अतिरिक्त जाति अपेक्षा छह प्रकार के द्रव्य सभी मेरे से भिन्न अस्तित्व धारण करने वाले परज्ञेय हैं। संख्या अपेक्षा तो अनन्तानन्त हो जाते हैं, जैसे अनन्त जीवद्रव्य हैं, वे सभी जीवद्रव्य होते हुए भी मेरे से भिन्न होने से परज्ञेय हैं। इसके अतिरिक्त अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, उनमें मेरा शरीर आदि तथा मेरे से सम्बन्धित समस्त कर्म नोकर्म आदि तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, मकान, जायदाद आदि समस्त परिकर सम्मिलित हो जाते हैं; वे सभी जिनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ही मेरे से भिन्न हैं, परज्ञेय रूप से ज्ञात होने से मेरे से भिन्न एवं उपेक्षा योग्य हैं। इसीप्रकार धर्म, अधर्म आकाश, काल कितने भी विस्तृत हों, कितने ही बड़े हों, सभी मेरे लिए परज्ञेय होने से मेरे लिए उपेक्षा करने योग्य हैं। उनका अलग अस्तित्व होने से, वे मेरी आज्ञानुसार परिणमित नहीं होते। वे मेरे ज्ञान में ज्ञात हो जाने मात्र से, मेरे कैसे हो सकते हैं? सारांश यह है कि उनके परिणमन ज्ञान में ज्ञात होने पर भी मेरी उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि रहनी चाहिए।

प्रश्न — लेकिन मेरे जीवतत्त्व के अतिरिक्त जो भी मेरे ज्ञान में ज्ञात हो, वे सभी परज्ञेय है, वे सभी पर होने से उपेक्षा योग्य है। उपरोक्त कथनानुसार उनमें तो अजीव पदार्थों के अतिरिक्त, मेरे स्वयं के अन्दर उत्पन्न होने वाले समस्त प्रकार के शुद्धाशुद्ध- परिणमन =आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि सभी प्रकार के संयोगीभाव भी आ जावेंगे? वे सभी भाव मेरे असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र में ही तो उत्पन्न होते हैं और मेरे ज्ञान में ज्ञात भी होते हैं; लेकिन उनमें मेरी चेतना अर्थात् उपयोग का अभाव होने से वे जीवतत्त्व भी नहीं हो सकते? इसलिये उनको स्वज्ञेय भी नहीं माना जा सकता? ऐसी स्थिति में तो उन सभी का परज्ञेयों में ही समावेश हो जाता है? अत: सभी को अजीवतत्त्व में ही सम्मिलित कर लेना चाहिए था? उनको अलग-अलग तत्त्व के रूप में कहने का क्या रहस्य है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर — यह बात तो सत्य है कि अजीव शब्द ही यह बताता है कि जिनमें उपरोक्त जीवपने का अभाव हो वह सब अजीव ही है, इस अपेक्षा भी अजीव में सभी पर्याय तत्त्व सम्मिलित हो जाना चाहिये। लेकिन जिनवाणी में कथन करने की पद्धति दो प्रकार से है। एक तो सामान्य अर्थात् संक्षेप कथन और दूसरा विशेष अर्थात् भेद प्रभेद के द्वारा विस्तार कथन। संक्षेप रुचि शिष्यों के लिए तो सामान्य कथन ही पर्याप्त होता है, वे तो सामान्य कथन के द्वारा ही वस्तुस्वरूप को पहिचानकर आगे बढ़ते चले जाते हैं और शीघ्र ही अपने प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेते हैं। इस कथन का लाभ यह है कि ऐसे जीवों का समय एवं शक्ति दोनों का पूरा-पूरा सदुपयोग होकर वे शीघ्र ही परमपद प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन विस्ताररुचि शिष्यों को जब तक भेद-प्रभेद करके विस्तारपूर्वक कथन नहीं किया जाये, वे वस्तुस्वरूप को समझ ही नहीं पावेंगे तथा पर्याय तत्त्वों में हेय-उपादेयबुद्धि उत्पन्न नहीं होगी तो इन तत्वों के स्वरूप समझने पर भी मोक्षमार्ग कैसे प्राप्त हो सकेगा? अतः ऐसे जीवों को जिसप्रकार से वस्तुस्वरूप समझ में आ जावे उस ही प्रकार से युक्ति, आगम, अनुमान, तर्क, दृष्टान्तादि के द्वारा समझाया जाता है; ताकि वे अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता को छोड़कर यथार्थ वस्तु स्वरूप समझकर हेय का अभाव कर उपादेय ग्रहण कर कल्याण कर सकें। इस पद्धति का लाभ यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि भी अपना स्वरूप समझकर अपना कल्याण कर सकता है। श्रीगुरु का उद्देश्य तो जीवमात्र के कल्याण का रहता है।

उपरोक्त पद्धतियों के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य अपेक्षा से जीवतत्त्व तो अकेला एक ही है और वह स्वयं ज्ञायक ही है। दूसरी ओर समस्त ज्ञेय हैं, जिनमें ऊपर कहे गये समस्त परद्रव्यों के साथ-साथ अपने ही असंख्यप्रदेशों में उत्पन्न होने वाले समस्त विकारी-निर्विकारीभाव आदि भी, परज्ञेय में गर्भित हो जाते हैं। इस अपेक्षा एक अजीवतत्त्व में ही सबका समावेश हो जाता है। ऐसे सामान्य कथन अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो मात्र दो ही तत्त्व रह जाते हैं एक तो स्वज्ञेयरूप जीवतत्त्व और दूसरी ओर समस्त ज्ञेय मात्र। लेकिन ज्ञेय तो ज्ञायकतत्त्व से पर होने के कारण, उनमें तो मेरे ज्ञान का अंशमात्र भी नहीं मिल सकता। अत: उनका जीवतत्त्व में तो समावेश हो नहीं सकता, इस कारण उन सबको अजीवतत्त्व में समावेश कर सामान्य कथन की पद्धति भी जिनवाणी में है।

विस्तार रुचि शिष्यों को यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए ही आत्मा के समस्त भावों को सात तत्त्वों के माध्यम से भिन्न-भिन्न करके समझाया गया है; क्योंकि अनादि काल से अज्ञानीजीव परपदार्थों एवं अपने ही विकारी-निर्विकारी भावों स्वरूप ही अपना अस्तित्व मानता चला आ रहा है। अपना यथार्थ स्वरूप जो ज्ञायक मात्र है, उसे वह एकदम भूला हुआ है। ऐसे जीव को जब तक विस्तारपूर्वक कथन करके उन सबका भिन्न-भिन्न स्वरूप समझाकर, विश्वास जागृत नहीं कराया जावेगा तब तक वह अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता को कैसे छोड़ सकेगा? अनादिकाल से अपने स्वरूप का ज्ञान उस जीव को हुआ ही नहीं है, अत: उसको विस्तारपूर्वक कथन करके समझाये बिना आत्मा की अनन्त सामर्थ्य का ज्ञान, एवं विश्वास कैसे जागृत हो सकेगा? अत: विस्ताररुचि शिष्यों को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए विस्तार से कथन करना अत्यन्त आवश्यक है। विस्तार रुचि शिष्यों की विश्व में सदैव बहुलता है और रहेगी; अत: जिनवाणी में भी विस्तारपूर्वक कथन की ही बहुलता मिलती है।

समस्त कथन का तात्पर्य इतना ही है कि, अपने जीवतत्त्व-ज्ञायकतत्त्व के अनन्त सामर्थ्य का यथार्थ स्वरूप समझकर, जैसे बने वैसे अपना अस्तित्व उस रूप ही मानने का विश्वास अर्थात् श्रद्धा जागृत करनी चाहिए। तथा पर रूप अपने अस्तित्व की मान्यता छोड़कर तथा सन्मुखता छोड़कर मेरा उपयोग अपने ज्ञायक के सन्मुख होकर, उस ही में निवास करे ऐसी उग्र रुचि जागृत होनी चाहिए। मेरे जीवतत्त्व को स्वज्ञेय के रूप में स्वीकार करने का मात्र यही अभिप्राय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है, उसका कार्य तो स्व हो अथवा पर सबको जानने मात्र का है और उसका जानने का कार्य भी रुक नहीं सकता। लेकिन अज्ञान के कारण परज्ञेयों को ही स्व के रूप में स्वीकार कर, अनादिकाल से उन रूप ही अपना अस्तित्व मानने के कारण, अपने जीवतत्त्व को भूलकर, उपयोग की दिशा परसन्मुखतापूर्वक ही चली आ रही है। जब तक अपनी भूल यथार्थ समझपूर्वक समझेगा नहीं और अपने जीवतत्त्व में स्वपना तथा समस्त परज्ञेयों में परपना नहीं लावेगा, तब तक स्व में निवास करने की रुचि ही जाग्रत नहीं होगी, ऐसी स्थिति में उपयोग परज्ञेयों की सन्मुखता छोड़कर स्वज्ञेय के सन्मुख कैसे हो सकेगा? उपयोग के स्वसन्मुख हुए बिना आत्मानुभव तो सम्भव ही नहीं हो सकेगा। अतः जैसे भी बने वैसे, जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर, पर से प्रेम तोड़कर, स्व में प्रीति जोड़नी चाहिए।

इसप्रकार एक ओर तो मेरा ज्ञानस्वभावी ज्ञायक जीवतत्त्व अकेला तो "मैं" रह गया और दूसरी ओर परज्ञेय के रूप में मेरी ही पर्याय में होने वाले समस्त शुभाशुभ भावों के साथ-साथ मेरा शरीर और मेरे शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि सचेतन पदार्थ एवं धन, मकान, पैसा, जायदाद आदि सभी अचेतन पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं, वे रह गये। समस्त छह जाति के द्रव्य तो मेरे से भिन्न होने से परज्ञेय हैं ही। इसप्रकार मैं तो मात्र एक ज्ञायक के रूप में स्थाई बने रहने वाला, ध्रुवतत्त्व रह जाता हूँ। मेरे ज्ञान में परज्ञेय के रूप में सब कुछ ज्ञात होने पर भी, मैं तो उन सबसे भिन्न अपना अस्तित्व बनाये रखता हूँ। वे मेरे को किंचित्मात्र भी विकृत नहीं कर सकते? ऐसा महान् सामर्थ्यवान् मैं जीवतत्त्व हूँ। यही मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप है। ऐसे मेरे जीवतत्त्व को जिनवाणी में अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। जैसे — शुद्धजीवतत्त्व, परमपारिणामिक भाव, ध्रुवतत्त्व, शुद्धजीवास्तिकाय, ज्ञायकभाव, त्रिकालीभाव, कारण-शुद्धजीव, कारणपरमात्मा इत्यादि अनेक अपेक्षाओं को लेकर, मेरे ही वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब नाम हैं। मेरे ज्ञानतत्त्व की, एक समय की पर्याय, स्व के साथ उपरोक्त समस्त ज्ञेयों को, एक साथ ही जान सकने की सामर्थ्यवाली है। जानते हुए भी वह पर्याय, स्वयं उन ज्ञेयों रूप नहीं होकर अपना भिन्न अस्तित्व बनाये रखतीं है तथा किसी ज्ञेय से सम्बन्ध भी नहीं जोड़ती। सादि अनन्तकाल तक भी ऐसी पर्यायें, मेरे जीवतत्त्व में से प्रवाहित होती रहें, फिर भी उसमें कभी कोई कमी नहीं आ सकती, ऐसा अक्षय, अनन्त सामर्थ्यवान मैं जीवतत्त्व हूँ। मेरी ज्ञान पर्याय में ज्ञात होने वाला परज्ञेयों का समस्त परिकर, मेरे लिए मात्र उपेक्षणीय है, इसके अतिरिक्त उनसे मेरा अन्य कोई प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं है। इसप्रकार सारे ज्ञेयों से अपनी अधिकता लगने पर, अपने आत्मा की महिमा जागृत होकर, समस्त परज्ञेयों के प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि जागृत हो जावे, आत्मार्थी का यही एकमात्र कर्तव्य रह जाता है। इसप्रकार "एक ओर राम और एक ओर गाँव" की लौकिक कहावत चरितार्थ होती है, और सर्वज्ञता की यथार्थ श्रद्धा जागृत होती है।

इसप्रकार समस्त परज्ञेयों में सम्मिलित उपरोक्त सभी पदार्थों को अजीवतत्त्व के समान समझकर, भिन्नपने की यथार्थ श्रद्धा जागृतकर, सबके प्रति उपेक्षाबुद्धि जागृत करना ही जीव अजीवतत्त्व की यथार्थ समझ एवं यथार्थ प्रतीति है और यही आत्मा को ज्ञानस्वभावी स्वीकार करना है।

उपरोक्त सन्दर्भ में कतिपय आगम वाक्य निम्नप्रकार हैं —

समयसार गाथा — ३८ निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचितमात्र अन्य परद्रव्य, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

समयसार गाथा — ३१ जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक आत्मा को जानते हैं, उन्हें साधु जितेन्द्रिय कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयसार गाथा — ३२ जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, उस मुनि को जित मोह कहा जाता है।

प्रवचनसार गाथा — २४२ जयसेनाचार्य टीका— भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से बाकी रहे पुद्गलादि पाँच द्रव्यों से भिन्न सहज शुद्ध नित्यानन्द रूप एक स्वभावी मैं आत्मद्रव्य हूँ, वही मेरे लिए उपादेय है, ऐसी रुचि वही सम्यग्दर्शन है।

उपरोक्त आगम वाक्यों से भी स्पष्ट है कि ज्ञानी तो ज्ञान में आने पर भी अन्य द्रव्य एवं उन द्रव्यों के भाव उनसे भिन्न अपने आपको जानता है एवं मानता है तथा उन सब ज्ञेयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि के द्वारा अपने आपको, उन सब द्रव्यभावों से अधिक अनुभव करता है, यही मोह अर्थात् मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय है।

भेदज्ञान

भेदज्ञान का स्वरूप एवं अन्य द्रव्यों से भेदज्ञान

भेदज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त है — दो मिली हुई वस्तुओं में से दोनों को अलग-अलग पहिचानना।

यहाँ हमारा प्रकरण भेद का ज्ञान करने का है, दोनों को अलग-अलग कर देने का नहीं है; क्योंकि दोनों को पहिचान लेने के पश्चात् ही, दोनों में से कौन सी वस्तु मेरे लिए उपयोगी है व कौनसी अनुपयोगी है, ऐसा प्रयोजनभूत तथ्य प्रगट होता है।

भेदज्ञान का मुख्य उद्देश्य जब तक उन वस्तुओं के विश्लेषण द्वारा, यह पता नहीं लगाया जावे कि इसमें प्रयोजनभूत पदार्थ क्या है व कितना है और अप्रयोजनभूत क्या है व कितना है, तब तक उसका मूल्यांकन कैसे किया जा सकेगा। जैसे ८० प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण तथा २० प्रतिशत अन्य धातुयें मिली हुईं हैं — ऐसी मिश्रित स्वर्ण की डली को बेचने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए जब कोई व्यक्ति स्वर्णकार के पास जाता है तो स्वर्णकार सर्वप्रथम उस डली में कितना तो शुद्ध स्वर्ण है व कितना अस्वर्ण है, इसका कसौटी पर कसकर परीक्षा करके अपनी पारखी दृष्टि के द्वारा उसमें असली स्वर्ण को पहिचानकर, मूल्यांकन कर लेता है। स्वर्णकार की दृष्टि इतनी परिपक्व होती है कि डली को छिन्न-भिन्न करे बिना, स्वर्ण के लक्षणों का यथार्थज्ञान होने से, असली स्वर्ण को पहिचान लेता है।

इसप्रकार प्रयोजनभूत तत्त्व के स्वरूप एवं लक्षण का स्पष्ट ज्ञान होना, भेदज्ञान करने के पूर्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भेदज्ञान करने के पूर्व इसका यथार्थ ज्ञान श्रद्धान होना चाहिए कि जिनमें भेद किया जाना है; वे दोनों अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाले दो पदार्थ हैं। दोनों स्वतंत्र पदार्थ होने पर भी, वर्तमान दशा में वे मिल गए हों, ऐसा दिखता होने पर भी, वे अपनी-अपनी सत्ता का अभाव नहीं कर देते। क्योंकि जिनकी सत्ता ही समाप्त होकर दोनों एक हो जावेंगे तो उनको भिन्न कोई कैसे कर सकेगा? अतः सिद्ध होता है कि हरएक वस्तु अपनी-अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी, मात्र वर्तमान दशा में एकमेक हो गई हो ऐसा दिखने लग गई है, लेकिन वास्तव में एक नहीं हुई है, आचार्य उमास्वामी ने वस्तु की परिभाषा भी इसप्रकार की है —

"सत्द्रव्य लक्षणं और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत्" वस्तु वही है जिसकी सत्ता सदैव बनी रहे और वह अपने गुण-स्वभावों की अवस्थायें क्षण-क्षण में बदलते हुए भी वे ध्रुव (नित्य) उस वस्तु में बने रहें, यह वस्तु मात्र का स्वभाव है।

तीसरा विषय है कि दोनों वस्तुयें भिन्न-भिन्न सत्ता रखने वाली होने पर भी उसमें प्रयोजनभूत वस्तु के उन के गुण-स्वभाव क्या-क्या हैं, जो उस किसी भी परिस्थिति में वस्तु से भिन्न नहीं हो सकें। तथा वे गुण स्वभाव अप्रयोजनभूत वस्तु में नहीं पाये जावें। उनका यथार्थ ज्ञान श्रद्धान होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रयोजनभूत वस्तु के गुणस्वभावों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिपूर्णज्ञान श्रद्धान हुए बिना अन्य वस्तु से उसकी भिन्नता कैसे पहिचानी जा सकेगी ? जैसे स्वर्ण में स्थायी रहने वाले गुणस्वभावों का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान हुए बिना स्वर्णकार, शुद्ध स्वर्ण का मूल्यांकन नहीं कर सकता। अग्नि में तपाने पर भी स्वर्णत्व रह जाता है अतः वही स्थायी भाव है।

अप्रयोजनभूत वस्तु के गुणस्वभावों का मात्र सामान्य ज्ञान होना ही पर्याप्त है, क्योंकि जिस वस्तु को अपने से भिन्न मानना है, उसके विस्तार का ज्ञान करने से हमको क्या लाभ होगा ? मात्र इतना ही जानना पर्याप्त है कि वह मेरे लिए प्रयोजनभूत नहीं है। अतः प्रयोजनभूत वस्तु के गुणस्वभावों का यथार्थज्ञान श्रद्धान होना तो अन्य से भिन्न पहिचानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

चौथा गुण-स्वभाव तो वस्तु के साथ व्याप्य-व्यापक होकर रहते हैं, वस्तु से भिन्न नहीं किये जा सकते वे उस तादात्म्य होकर रहते हैं, वस्तु अगर सत् है तो वे गुणस्वभाव भी वस्तु के साथ त्रिकाल सत् रहेंगे। इसलिए यह सिद्ध है कि गुणस्वभाव वे ही हैं, जो वस्तु के साथ व्याप्य-व्यापक होकर तादात्म्य को प्राप्त हो गये हों, ऐसे गुणस्वभाव ही उसको पहिचानने के लिए लक्षण के रूप में कार्यकारी हो सकते हैं।

इसप्रकार उपरोक्त ऊहापोह के द्वारा भेदज्ञान के लिए महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नप्रकार प्रगट होते हैं —

१. जिन दो वस्तुओं में भेदज्ञान करना हो उनमें से सर्वप्रथम यह निर्णय होना चाहिए कि इनमें प्रयोजनभूत वस्तु कौनसी है, जिसको अन्य वस्तुओं से भिन्न पहिचानना है।

२. दोनों वस्तुएँ स्वतंत्र सत्ताधारक (स्थाई नित्य) वस्तुएँ होनी चाहिए, कहा भी है "सत्द्रव्य लक्षणं"।

३. वे वस्तुएँ अपने-अपने गुणस्वभावों में अभेदरूप से एक होकर रहती हैं। इसलिए वस्तु की सत्ता के साथ वे गुणस्वभाव भी अपनी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी वस्तु में त्रिकालीसत् बने रहते हैं, इसप्रकार हरएक वस्तु त्रिकाल बनी रहती है।

४. विशेषता यह है कि वे गुणस्वभाव, अपनी-अपनी वस्तुओं में तादात्म्यवृत्ति धारणकर, व्याप्य-व्यापक होकर, रहते हुए भी निरन्तर पलटते रहते हैं।

५. वे वस्तुएँ अपने-अपने गुणस्वभावों के साथ नित्य एकरूप बने रहने पर भी उनकी अवस्थायें निरन्तर पलटती रहती हैं। यही कारण है कि हरएक वस्तु हरसमय पलटती हुई अनुभव में आती हैं और दूसरी वस्तु जो उस पलटने के काल में ही, प्रयोजनभूत वस्तु के साथ निकटरूप से विद्यमान है, वह प्रयोजनभूत वस्तु की अवस्था के साथ मिलकर एक जैसी हो गई हो ऐसी दिखती है, लेकिन एक नहीं होती, भिन्न ही बनी रहती है। मिश्रित स्वर्ण की डली के समान।

विश्व की हरएक वस्तु की उपरोक्त व्यवस्था है और वह त्रिकाल अबाधित बनी ही रहती है। उक्त स्थिति को मुख्य रखते हुए, जो निजआत्मा प्रयोजनभूत है वह, अन्य द्रव्यभावों में मिला दिखने पर भी, स्वयं के गुणस्वभावों के यथार्थज्ञान श्रद्धान द्वारा सरलता से भिन्न पहिचाना जा सकता है, इसही का नाम भेदज्ञान है, ऐसे ही भेदज्ञान की महिमा आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका के कलश २९-३०-३१ में की है।

इसप्रकार सर्वप्रथम हमको अपने आत्मा का, गुणस्वभावों के यथार्थ परिज्ञानपूर्वक ज्ञान श्रद्धान कर, उसको एवं उसके परिणमन को पहिचानना चाहिए, तभी भेदज्ञान की सिद्धि होना संभव है।

जीवतत्त्व का अपनी ही विकारी पर्यायों से भेदज्ञान

जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व के अन्तर को तो आप इसी पुस्तक के देशनालब्धि के प्रकरण के अन्तर्गत आई हुई चर्चा से समझ ही चुके हैं। अतः जीवद्रव्य का अन्य द्रव्यों से भेद-ज्ञान तो सरलता से समझा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। क्योंकि उनकी सत्ता अलग-अलग है और वह प्रयोजनभूत भी है। क्योंकि अज्ञानी को अनादिकाल से अपने से अन्य द्रव्यों में अर्थात् अपने शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित अन्य पदार्थों में एकत्व बुद्धि वर्त रही है, अपने को उनका कर्त्ता-भोक्ता मानता चला आ रहा है। ऐसी एकत्व बुद्धि के अभाव करने का मात्र एक ही उपाय है कि दोनों द्रव्यों के बीच का भेद का ज्ञान कराकर उनके प्रति अकर्त्ता-अभोक्तापने की मान्यता उत्पन्न कराना। अतः उपरोक्त श्रद्धा कराने का उद्देश्य यह है।

उपरोक्त प्रकार से भेद-ज्ञान द्वारा जब अपने आत्मद्रव्य का विश्लेषण करता है; तब अपने अन्दर एक ओर तो नित्य-स्थाई-ध्रुवभाव ज्ञान में आता है और दूसरी ओर, अस्थाई- अनित्य-पर्याय ज्ञान में आती है। दोनों की सत्ता भी एक है तथा प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं। अतः ध्रुवभाव और पर्याय भाव के बीच भेद-ज्ञान समझने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति होने पर, सात तत्त्वों के माध्यम से ध्रुवभाव एवं पर्याय भाव में भेद-ज्ञान समझाया जाता है। जिनमें त्रिकाली ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी एक ध्रुवभाव तो जीवतत्त्व है बाकी रहे छह तत्त्व वे सब पर्याय भाव ही हैं। इसप्रकार सातों तत्त्वों के स्वरूप को विस्तार से समझना आवश्यक हो जाता है। उनमें सर्वप्रथम जीवतत्त्व का सभी पर्याय तत्त्वों से भेदज्ञान कराना आवश्यक है। लेकिन उनमें से प्रथम जीवतत्त्व से विकारी पर्यायों का भेद-ज्ञान, अति आवश्यक भी है संभव भी है और प्रयोजनभूत भी है।

सातों तत्त्वों में जीवतत्त्व का अजीवतत्त्व से सर्वप्रथम भेद-ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इस भाग ४ का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए आगामी भाग ५ में विकारी पर्यायों से भेद-ज्ञान कराने का विषय विस्तार से आवेगा। इसी भाग ४ में भी ज्ञानस्वभाव प्रकरण के अन्तर्गत "विकारी पर्यायों से भिन्नता करने का उपाय" शीर्षक में भी इसका विवेचन संक्षेप से आया है, वहाँ से समझ लेवें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदज्ञान पद्धति के दो प्रकार

उपरोक्त भेदज्ञान करने की पद्धति के दो प्रकार हैं। एक तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को ज्ञानी बनने के लिए अर्थात् सम्यग्दृष्टि बनने के लिए अपनाने योग्य है। इसके द्वारा आत्मा को सबसे भिन्न समझा जाता है अर्थात् पहिचाना जाता है और पहिचानकर रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता पूर्वक "मैं ही समस्त ज्ञेयमात्र से भिन्न ज्ञायक परमात्मा हूँ" ऐसी श्रद्धा प्रगट होती है।

दूसरी पद्धति ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाने के बाद, पूर्णता प्राप्त करने के लिए सहजरूप से प्रगट होती है अर्थात् रुचि का वेग एवं परिणति की शुद्धता अपने आत्मतत्त्व की ओर झुक जाने के कारण पर की उपेक्षा हो जाने से सहज भेदज्ञान वर्तता रहता है। ज्ञानी के लिए उस ही को करने योग्य पुरुषार्थ कहा जाता है। इसके द्वारा ही आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी पहली पद्धति द्वारा अपनी निज आत्मा (वह ध्रुवतत्त्व जिसको भेदज्ञान की पद्धति द्वारा सबसे भिन्न समझकर स्व के रूप में पहिचाना है) के स्वरूप को समझ लेता है तथा अपनी परिणति को सभी परज्ञेयों (जिनको पर्याय में मिले हुए जैसे दिखने पर भी अपने से भिन्न समझा है) से हटाकर, परिणति को समेटकर आत्मसन्मुख करके, आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव आत्मानन्द प्रगट कर लेता है। तत्पश्चात् द्वितीय पद्धति का ही शरण लेता है अर्थात् अपनाता है। अतः मिथ्यादृष्टि को भी द्वितीय पद्धति के स्वरूप को समझना एवं उसको अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

यह बात अवश्य है कि सर्वप्रथम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को अपने आत्मा का संशय, विपरीतता एवं अस्पष्टता रहित यथार्थ स्वरूप, जब तक विस्तारपूर्वक समझ के द्वारा, स्पष्ट रूप से श्रद्धा में स्वपने नहीं बैठा होगा तबतक आत्मानुभव नहीं होगा; अतः द्वितीय पद्धति किंचित्मात्र भी सफल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हो सकेगी; क्योंकि अज्ञानी आत्मा का अनुभव करनेवाला उपयोग तो अभी तक निजात्मा को भूलकर पर पदार्थों को अपना व हितकर मानते रहने से परसन्मुख ही हो रहा है। अतः जब तक उन सब पर पदार्थों को परपने का विश्वास जागृत नहीं होगा तथा इन पदार्थों को सुखकर मानता रहेगा तब तक मेरा आत्मा पर पदार्थों की सन्मुखता छोड़कर आत्मसन्मुख कैसे और क्यों होगा? उपयोग आत्मसन्मुख हुए बिना निर्विकल्पता नहीं हो सकेगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा।

समयसार ग्रन्थ की गाथा २०६ में कहा भी है कि —

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इसमें ही बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥ २०६॥

उपरोक्त स्थिति के समर्थन में आचार्यश्री ने समयसार ग्रन्थ की गाथा १४४ की टीका में भी निम्न शब्दों में कहा है —

"प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है, तथा जो नानाप्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ .... ।"

इसप्रकार सर्वप्रथम प्रथम पद्धति के द्वारा "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ," यह निर्णय करना आवश्यक है। आचार्यश्री ने भी कहा है कि "प्रथम श्रुतज्ञान (द्रव्यश्रुत-जिनवाणी) के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके" अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को भी ज्ञानी बनने के लिए अर्थात् सम्यग्दृष्टि बनकर आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए, अपने स्वरूप का निर्णय करने की दृष्टि से, रुचिपूर्वक, सर्वप्रथम जिनवाणी के अध्ययन एवं सत्समागम द्वारा पहली पद्धति अपनाकर, ऐसा ही निर्णय करना होगा कि 'मैं तो आत्मा मात्र ज्ञानस्वभावी हूँ'; 'अन्य ज्ञेयमात्र मेरे जानने में तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आते हैं, लेकिन उनरूप मैं नहीं हूँ वे मेरे नहीं हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूप रहता हुआ, अपने ही ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा, उन ज्ञेयों के साथ कोई सम्बन्ध बनाये बिना, तटस्थरूप से, मात्र जाननेवाला ही हूँ।' ऐसे, यथार्थ निर्णय के द्वारा उन ज्ञेयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होकर अपने ज्ञायक स्वरूप में सिमट जाने की रुचि का उदय होता है। आत्मा की रुचि का (परिणति का) वेग, समस्त ज्ञेयमात्र की ओर से सिमटकर जब अपनी आत्मा में एकमेक होना चाहता है। उपरोक्त दशा प्राप्त जीव ही देशनालब्धि की अन्तिम स्थिति को पार करके प्रायोग्यलब्धि में पदार्पण करने योग्य बनता है। उपरोक्त गाथा नं. १४४ की टीका के उत्तर चरण अर्थात् मतिज्ञान-तत्त्व एवं श्रुतज्ञान-तत्त्व को मर्यादा में लाने का यही एकमात्र स्वाभाविक एवं सहज पुरुषार्थ है। ऐसा पुरुषार्थ कर्त्तृत्वबुद्धि के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता; वरन् कर्त्ताबुद्धि के अभावपूर्वक एवं ज्ञातृत्वबुद्धि के दृढ़तापूर्वक उत्पन्न होने पर ही उपरोक्त पुरुषार्थ का उदय होता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का सार यह है कि आत्मार्थी को सर्वप्रथम अंतरंग में यथार्थ रुचि उत्पन्न करके जैसे बने वैसे अर्थात् अभ्यास एवं सत्समागम के द्वारा अपनी रुचि को सब ओर से समेटकर मात्र यह निर्णय करने के लिए कटिबद्ध होकर निर्णय करने में लगाना चाहिए कि "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा कैसे हूँ"। तथा ज्ञेयमात्र के प्रति परपने के साथ अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होकर ज्ञानस्वभावी आत्मा में अपनापन करने के लिए अत्यन्त उत्साहवान् होना चाहिए कि उसके बिना चैन नहीं पड़े। ऐसी स्थिति जब तक उत्पन्न नहीं हो तब तक एकमात्र इस ही निर्णय करने में संलग्न रहना चाहिए कि "मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ"। यह एकमात्र आत्मानन्द अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने का उपाय है। कहा भी है "काम एक आत्मार्थनों बीजो नहीं मनरोग" आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने भी कलश २३ में इसही आशय का समर्थन किया है —

"अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥ २३ ॥

अर्थ — अयि यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू किसी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।"

"मैं ज्ञानस्वभावी हूँ" ऐसे निर्णय की पूर्व भूमिका-पात्रता

उपरोक्त समस्त चर्चा से स्पष्ट है कि सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम ऐसा स्पष्ट एवं यथार्थ निर्णय होना चाहिए कि "मैं तो मात्र ज्ञायक ही हूँ, अर्थात् ज्ञानस्वभावी ही हूँ, मेरे में तो निरन्तर ज्ञानक्रिया ही प्रवाहित होती रहती है। अतः उस ज्ञानक्रिया में जो भी परज्ञेय ज्ञात होते हैं, उनसे मेरा मेरेपन का सम्बन्ध किंचित्मात्र भी नहीं है, मेरे ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात होने पर भी वे मेरे लिए तो मात्र उपेक्षणीय परज्ञेय ही हैं। अपेक्षणीय अर्थात् अपनत्व एवं एकत्व करने योग्य तो एकमात्र मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही है।" इसप्रकार रुचिपूर्वक निर्णय होने का अपनी परिणति में फल अवश्य आता ही है। क्षयोपशम ज्ञान में ऐसा निर्णय कर लेने पर भी अगर परिणति में परिवर्तन नहीं आया तो आत्मा को क्या लाभ हुआ? जैसे किसी लौकिक समस्या को सुलझाने के लिए निर्णय किया जाता है ऐसा ही यह निर्णय होगा। उसका लाभ आत्मा की परिणति को नहीं होता।

प्रश्न — परिणति में परिवर्तन की पहिचान क्या है?

उत्तर — यह बात स्पष्ट है कि परिणति स्वयं की है और स्वयं का ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है; अतः हरएक आत्मा को अपनी परिणति का ज्ञान अवश्य होता ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे जब तक यह जीव परज्ञेय अर्थात् स्वयं के शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्बादि एवं घर, मकान, रुपया, पैसा आदि परद्रव्यों में ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ; तथा मैं इनको जैसा चाहूँ परिवर्तित कर सकता हूँ ऐसा मानकर, उनको अपनी इच्छानुसार परिणमन कराने के लिए तथा प्रतिकूलताओं को हटाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसके कारण इसकी परिणति निरन्तर आकुल व्याकुल रहती है। इसका ज्ञान भी हर समय इसको होता ही रहता है।

इसीप्रकार आगमाभ्यास, गुरूपदेश एवं सत्समागम आदि के द्वारा वह जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जब समझ लेता है कि "मैं तो ज्ञानस्वभावी ज्ञायक आत्मा हूँ, परज्ञेय तो मेरे से भिन्न हैं, वे अपने-अपने द्रव्य, गुण, पर्यायों में मेरी अपेक्षा रखे बिना स्वयं अपने ही सामर्थ्य से परिणमते हैं और परिणमेंगे, मैं उनके परिणमनों में किंचित्मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता, मात्र उनको व उनके परिवर्तनों को उपेक्षाबुद्धि से तटस्थ रहकर जान ही सकता हूँ" ऐसी श्रद्धा जागृत होते ही उसको अपनी परिणति में शान्ति आये बिना रह ही नहीं सकती। इसप्रकार का परिवर्तन उसको अनुभव में आने से वह स्वयं अपनी परिवर्तित परिणति का ज्ञान अवश्य ही कर लेता है।

इसी परिवर्तन का स्पष्ट चित्रण पद्मनन्दि पंचविंशतिका के परमार्थविंशति अधिकार के श्लोक १९ में निम्नप्रकार किया है —

"जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथा कौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरे पिच।
मौनं च प्रतिभासते पि च रहः प्रायो मुमुक्षोश्चितः
चिन्तायामपि था तिमिच्छति समं दोषर्मनः पचताम्॥ १९॥

भावार्थ — चैतन्यस्वरूप आत्मा के चिन्तन में मुमुक्षुजन के (लौकिक) रस नीरस हो जाते हैं, सम्मिलित होकर परस्पर चलने वाली विकथाओं का कौतूहल नष्ट हो जाता है, इन्द्रिय विषय विलीन हो जाते हैं, शरीर के विषय में भी प्रेम का अन्त हो जाता है, एकान्त में मौन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभासित होता है तथा ऐसी अवस्था में दोषों के साथ मन भी मरने की इच्छा करता है।"

संक्षेप में कहो तो संसार देह, भोगों से विरक्ति होना ही उपरोक्त तत्त्वज्ञान को समझने का फल है। "मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा ही हूँ, पर से निरपेक्ष रहकर जानते रहना ही मेरा स्वभाव है।" ऐसी अन्तरंग में श्रद्धा जागृत होते ही उस जीव की परिणति में परिवर्तन आये बिना रहता ही नहीं तथा ऐसी धुन लग जाती है कि —

"काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मनरोग"

उसका फल आता है कि —

"कषाय की उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणी दया, वहाँ आत्मार्थ निवास॥"

उपरोक्त विरागता उत्पन्न हुए बिना, परिणति में सम्यक्त्व की पात्रता उत्पन्न नहीं होती, कारण सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान नियम से वैराग्य सहित ही होता है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार कलश १३६ में कहा भी है —

"सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥ १३६॥

अर्थ — सम्यग्दष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती हैं; क्योंकि वह स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, यह स्व है अर्थात् आत्मस्वरूप है, और यह पर है इस भेद को परमार्थ से जानकर स्व में स्थिर होता है और पर से, राग के योग से, सर्वतः विरमता (रुकता) है। यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती।"

पण्डित बनारसीदासजी ने भी नाटक समयसार निर्जरा द्वार के चौपाई ४१ में कहा है कि —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी,
ज्ञानी मगन विषय सुख माहीं, यह विपरीत संभवै नाहीं।।

उपरोक्त आगम वाक्यों से ज्ञानी जीव की अन्तर्परिणति का स्पष्ट चित्रण होता है। करणानुयोग के आधार से भी स्पष्ट है कि श्रद्धा सम्यक् होते ही अनन्तानुबंधी का अभाव होना अवश्यंभावी है, फलतः साथ-साथ ही उतने अंश में परिणति में वीतरागता प्रगट होती ही है, आगे पीछे नहीं। उपरोक्त परिणति ज्ञानीजीव को सहजरूप से स्वाभाविक वर्तने लगती है। इस परिणति की आंशिक प्रगटता तो सम्यक्त्वसन्मुखजीव को भी उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। इसलिए ऐसी प्रगटता ही आत्मार्थी का यथार्थ लक्षण है। यह इसका प्रमाण भी है कि उस जीव ने आगमाभ्यास आदि के द्वारा यथार्थ निर्णय प्राप्त किया है।

उपरोक्त परिणति प्रगट हुए बिना प्रायोग्यलब्धि का प्रारम्भ अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने की योग्यता ही प्रगट नहीं होती। अतः आत्मार्थी को उपरोक्त पात्रता प्रगट करने के लिए "मैं ज्ञानस्वभावी ही हूँ", मैं स्वयं अनन्त शक्तियों का भण्डार हूँ, मेरा सुख अन्य कहीं से नहीं आ सकता मैं स्वयं ही सुख का भण्डार हूँ। अतः वह मेरे में से ही प्रगट होगा, इत्यादि द्वारा अपने आप की ऐसी महिमा जागृत होना चाहिए कि सारे जगत से भी आत्मार्थी को अपने आत्मस्वभाव की अधिकता लगने लगे और उसको प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्साहित हो जावे। उपरोक्त स्थिति प्राप्त होने तक आत्मार्थी को निरन्तर जिनवाणी का अध्ययन तथा सत्समागम चिन्तन मनन द्वारा उक्त निर्णय प्राप्त करने में ही लगा रहना चाहिए।

आकर्षण का केन्द्रबिन्दु आत्मा ही कैसे हो?

प्राणीमात्र को सुख चाहिए। हर एक उपाय प्रत्येक प्राणी सुख प्राप्त करने के लिए ही करता है। मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ७८में कहा है कि— "इस जीव का प्रयोजन तो एक यही है कि दुःख न हो और सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है।" धर्म भी किया जाता है तो वह भी मात्र सुख प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का मूल है कि मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी ज्ञायक मात्र हूँ ऐसी श्रद्धा जागृत होकर, ज्ञेयमात्र के प्रति परपना आकर सबकी ओर से वृत्ति सिमटकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति प्रगट हो। अतः जब तक ऐसा विश्वास अर्थात् श्रद्धा जीव को जागृत नहीं होगी आत्मानुभति भी नहीं होगी। सुख की प्राप्ति भी नहीं होगी; और तब तक उसके आकर्षण का केन्द्र भी आत्मा नहीं बन सकता। सारांश यह है कि अभी तक मैंने परवस्तुओं को सुख का दाता माना हुआ था लेकिन उनसे सुख प्राप्त होता ही नहीं है, अपितु दुःख ही प्राप्त होता है। मैं अभी तक जिसको सुख मानता चला आ रहा हूँ वह तो आकुलता रूप है, अतः दुःख ही है; ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाना चाहिये।

प्रश्न — वास्तविक सुख क्या है एवं वह कहाँ से प्राप्त होगा?

उत्तर — आत्मार्थी को अगर यह विश्वास जम जावे कि वास्तव में सुख तो निराकुलता ही है और उस सुख का खजाना मेरा आत्मा ही है, तो आकर्षण का केन्द्र, निश्चित रूप से अपना आत्मा ही हो जावेगा। इसलिए निम्न विषयों का निर्णय करना चाहिए। (१) सुख का लक्षण आकुलता है अथवा निराकुलता? (२) वह सुख कहाँ से प्राप्त होगा।

सुख का लक्षण निराकुलता ही क्यों?

पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल में सुख का लक्षण निराकुलता ही बताया है —

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।"

जब जीव को किसी भी कारण से आकुलता होती है तो वह अपने को दुःखी अनुभव करता है और जब वह कम हो जाती है तब अपने को सुखी मानने लगता है, यह सबके अनुभव में भी है। अतः यह तो निर्विवाद है कि सारा जगत् आकुलता को ही दुःख मानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकुलता उत्पन्न क्यों होती है और उन आकुलताओं को मिटाने का जो उपाय करते हैं वह अयथार्थ क्यों है तथा आकुलता मिटाने का सच्चा उपाय क्या है? इस विषय का विवेचन सुखी होने का उपाय भाग-१ के विषय प्रवेश में विस्तार से किया गया है। पाठकगण इस सन्दर्भ में उसका अध्ययन अवश्य करें।

वास्तविक स्थिति यह है कि संसारी प्राणी आकुलता को दुःख तो मानता है, लेकिन उस आकुलता को मिटाने का उपाय यथार्थ नहीं जानता। ऐसा मानता है कि इच्छारूपी आकुलता को मिटाने का उपाय, इच्छाओं की पूर्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति करना है, उनके भोगने से आकुलता मिटेगी, इस मान्यता के कारण ही वह विषयों के साधन जुटाने में लगा रहता है। उनको जल्दी-जल्दी एवं अधिक से अधिक भोगने के लिए तीव्र आकुलता उत्पन्न करता है, लेकिन उसके माने हुए उपायों से आकुलता मिटना तो दूर घटती भी नहीं है बल्कि उलटी बढती ही जाती है। इसप्रकार इस ही में संलग्न रहते हुए अपना जीवन खो देता है।

आकुलता मिटाने का यथार्थ उपाय तो उसकी उत्पत्ति के कारणों का अभाव कर देना है, ताकि वह उत्पन्न ही न होवे, तभी आत्मा को वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचारकर निर्णय करना चाहिए।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानना है। स्व को तो तन्मयतापूर्वक एवं पर को तटस्थ रहते हुए कोई प्रकार का सम्बन्ध जोड़े बिना, अपनी योग्यता से अपने में ही रहकर मात्र जानते रहने का है। उस ज्ञान में ज्ञात होने वाले ज्ञेय पदार्थ, स्वयं स्वतंत्र द्रव्य होने से, वे अपने स्वभाव सामर्थ्य से, किसी के भी हस्तक्षेप अथवा सहायता बिना, अपने कालक्रमानुसार निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। जो कोई भी उनको अथवा उनके परिणमनों को जाने तो उनमें प्रमेयत्वगुण होने से बिना कोई भेदभाव के उसके ज्ञान में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात हो जाते हैं। उन ज्ञेय बनने वाले द्रव्यों को यह पता भी नहीं होता कि कौन उनको जान रहा है। इसप्रकार ज्ञेयद्रव्यों की भी सहज स्वभाविक स्वतंत्र परिणमन की व्यवस्था है।

अज्ञानीजीव को उपरोक्त व्यवस्था पर श्रद्धा- विश्वास नहीं होने से, ज्ञेयों के ज्ञान के समय, अपने तटस्थ ज्ञाता स्वभाव को भूलकर, ज्ञेयों में अपनापन मानते हुये अच्छा माननेरूप अथवा बुरा माननेरूप सम्बन्ध जोड़ लेता है। फलतः उनपर स्वामित्व मानकर अच्छा लगने वाले ज्ञेयों को रखने की एवं बुरा लगने वाले ज्ञेयों को दूर करने की चेष्टा करता रहता है। लेकिन उसका सफल होना तो संभव ही नहीं है। फलतः निरन्तर आकुलित ही बना रहता है। योगानुयोग से इसकी इच्छा के अनुसार कभी वे द्रव्य परिणमन करते हुए दिख जाते हैं, तो इसकी विपरीत मान्यता और भी दृढ हो जाती है; फलतः अपने प्रयासों को सफल होता हुआ मानने के कारण उन ज्ञेयों को बनाये रखने अथवा दूर करने के प्रयासों में और भी तीव्रता के साथ जुट जाता है, इसप्रकार निरन्तर आकुलित बना रहता है। प्रयासों की सफलता पर प्रसन्नतारूपी वेदन, तथा उनके भोगने की गृद्धतारूपी तीव्र आकुलताओं से ग्रस्त रहता है एवं असफल होने पर दीनता हीनता सम्बन्धी आकुलताओं से त्रस्त रहता है। अनादिकाल से अज्ञानीजीव इसही प्रकार की आकुलताओं को भोगता हुआ निरन्तर दुःखी होता चला आ रहा है।

गम्भीरता से विचार किया जावे तो इस बीमारी की जड़ तो विपरीत मान्यता है। इसकी मान्यता है कि मेरा सुख तो इन ज्ञेयों में से ही आवेगा और मैं इनका स्वामी हूँ। अतः सुख प्राप्ति के लिए उन ज्ञेयों के प्रति झपट्टे मारता रहता है। सफलता अथवा असफलता मिलने पर आकुलतारूपी दुःख ही प्राप्त होता चला आ रहा है। अज्ञानीजीव का ज्ञान मिथ्यात्व के कारण ज्ञेयों की ओर ही केन्द्रित रह कर मात्र परलक्ष्यी ही बना हुआ है। वह परलक्ष्यीज्ञान तो इन्द्रिय अथवा मन के माध्यम से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही कार्य करता है और एक समय एक ही इन्द्रिय के माध्यम से ज्ञान करेगा? उसी समय बाकी रही पाँच इन्द्रियों के विषय प्राप्त करने सम्बन्धी आकुलता की पूर्ति तो किसी भी प्रकार से हो ही नहीं सकेगी। लेकिन अज्ञानी तो ज्ञेयों में से एकसाथ ही सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर लेना चाहता है। अतः इसकी आकुलताओं का अन्त नहीं होता। फिर भी अपनी विपरीत मान्यता के कारण, उन आकुलताओं को आकुलता नहीं मानकर सुख की कल्पना करता रहता है। ऐसी विपरीत मान्यता को सच्ची समझ द्वारा स्वयं ही बदल सकता है।

प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा ७५-७६ की टीका में निम्नप्रकार कहा है —

"ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता॥ ७५॥

टीका — जिनके तृष्णा उदित होती है ऐसे देव पर्यंत समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दुःखी होते हुए मृगतृष्णा में से जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं और उस दुःसंताप के वेग को सहन न कर सकने से विषयों को तब तक भोगते हैं, जब तक कि विनाश को (मरण को) प्राप्त नहीं होते। जैसे जोंक (गोंच) तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विषय को प्राप्त होती हुई दुःखांकुर के क्रमशः आक्रान्त होने से दूषित रक्त को चाहती है और उसी को भोगती हुई मरणपर्यंत क्लेश को पाती है, उसीप्रकार यह पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भाँति, तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विषय प्राप्त दुःखांकुरों के द्वारा क्रमशः आक्रान्त होने से विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाशपर्यंत (मरणपर्यंत) क्लेश पाते हैं।"

"सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ ७६॥

टीका — परसम्बन्धयुक्त होने से, बाधासहित होने से, विच्छिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से, बन्ध का कारण होने से और विषम होने से, इन्द्रिय सुख, पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही है।

इन्द्रियसुख (१) ***पर के सम्बन्धवाला*** होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है, (२) ***बाधासहित*** होता हुआ खाने, पीने और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से (तृष्णा की प्रगटताओं से) युक्त होने से अत्यन्त आकुल है, (३) ***विच्छिन्न*** होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्त्तमान होता हुआ अनुभव में आता है इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है, (४) ***बन्ध का कारण*** होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घन पटलका सम्बन्ध होने के कारण परिणाम से दुःसह है और (५) ***विषम*** होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह (इन्द्रियसुख) दुःख ही है।"

इसप्रकार यह तो स्पष्ट समझ में आता है कि यथार्थतः आकुलता ही दुःख है, तथा ज्ञेयों में मेरेपने की मान्यता ही आकुलता का उत्पादक है।

प्रश्न — ज्ञान आत्मा का होते हुए भी परलक्ष्यी क्यों बना रहता है?

उत्तर — उसका कारण यह मिथ्या मान्यता है कि ज्ञेयों का मैं स्वामी हूँ, उन पर मेरा अधिकार है और मेरा सुख ज्ञेयों में से ही प्राप्त होगा; अतः सुख प्राप्त करने की तीव्र लालसा होने से उसको प्राप्त करने के लिए ज्ञान परलक्ष्यी ही बना रहता है। ज्ञेय तो अनन्त हैं और ज्ञान में ज्ञेय के रूप में जानने में भी आते रहते हैं। उनसे सुख प्राप्त करने के लिए, परलक्ष्यी ज्ञान ज्ञेयों को परिवर्तन करने की लालसा से आकुलित होकर भटकता रहता है। उसको यह विश्वास तो होता नहीं कि अनाकुलता मेरा स्वभाव है, अतः मेरे में से ही वास्तविक सुख प्रगट होगा। इसलिए आकुलतारूपी दुःख प्राप्त करते रहने की परम्परा अनादिकाल से अनवरत रूप से चली आ रही है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा भी है कि —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख प्राप्त करता, सुख टलैछे लेश ये लक्ष्ये लहो।
क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे, का अहो ! राचीरहो ।।

उपरोक्त चर्चा से यह तो सिद्ध होता है कि इन्द्रियजन्यज्ञान पर में अपनापन होने से परलक्ष्यी ही रहता है, अज्ञानी ज्ञेयों का स्वामी मानकर, उनको अपने अनुकूल करने की चेष्टा में निरन्तर आकुलित रहता है। संसारी प्राणी आकुलता की कमी को ही सुख मानता है, लेकिन वह वास्तव में सुख नहीं है, प्रत्युत दुःख ही है। सुख तो वास्तव में निराकुलता ही है। हमारे अनुभव में भी है कि हम आकुलता को मिटाना चाहते हैं, रखना या बढ़ाना नहीं चाहते, बल्कि उसकी कमी का भी नहीं बरन् अभाव करने का ही प्रयास करते हैं। अतः आकुलता तो दुःख ही है, सुख तो उसका अभाव होना ही है।

प्रश्न — निराकुलता कहाँ से व कैसे प्राप्त की जावे ?

उत्तर — यथार्थतः तो समस्त द्वादशांग की रचना ही एकमात्र इस ही प्रश्न का समाधान है। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि —

"आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न , यातैं शिवमग लाग्यो चहिये ।।"

आचार्यश्री समन्तभद्र महाराज ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की रचना करने में प्रतिज्ञा की है कि —

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणं।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।

अर्थ — मैं उस समीचीन (यथार्थ) धर्म को कहूँगा, जो कर्मों का अभाव करनेवाला हो और प्राणीमात्र को संसार दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त करा दे।"

तात्पर्य यह है कि आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति ही यथार्थतः आकुलता है, वही आत्मा का दुःख है और वीतरागता ही निराकुलता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और वही आत्मा का यथार्थ सुख है। समस्त द्वादशांग एकमात्र आत्मा में वीतरागता उत्पन्न कैसे हो ? उस ही मार्ग को बतलाती है, अतः इस विषय पर चर्चा आगे की जा रही है।

अनाकुलता कहाँ है ?

उपरोक्त प्रश्न को अपने अनुभव के आधार पर हमको हल करना चाहिये; यह विषय गम्भीरतापूर्वक विचार करने योग्य है। मैं आत्मा हूँ मेरे अस्तित्व का अभाव कभी नहीं होता यह तो निर्विवाद है लेकिन मेरे में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख तो आते हैं और चले जाते हैं अर्थात् बदलते रहते हैं। इनके बदलते रहने पर भी मैं तो वैसा का वैसा ही स्थाई बना रहता हूँ। मेरा स्वभाव वही हो सकता है, जो मेरे साथ स्थाई रह सके। उपरोक्त आकुलता-निराकुलता में से कौनसा भाव मेरे साथ स्थाई रहता है और आत्मा किसको बनाये रखना चाहती है; यह खोजना चाहिये ?

हमको अनुभव में है कि कोई भी आकुलता को रखना नहीं चाहता, वरन् अनाकुलता को ही बनाये रखना चाहता है; चेष्टा भी करता है कि सुख का अभाव होकर दुःख उत्पन्न ही नहीं होवे। कदाचित् किसी कारण से आकुलता उत्पन्न भी हो जावे तो उसको शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देने की चेष्टा करता है। अतः निश्चय होता है कि जिसको छोड़ने की भावना हो, वह स्वभाव नहीं हो सकता, अपने स्वभाव को कौन छोड़ना चाहेगा ? आकुलता तो क्षणिक उत्पन्न होने वाला विभावभाव है। जैसे पानी का स्वभाव तो ठण्डा है वह अपने ठण्डे स्वभाव में अनादिकाल से था और अनन्तकाल तक भी बना रहेगा। पानी गरम हो भी जावे तो वह ज्यादा काल गरम रह ही नहीं सकेगा; क्योंकि वह उसका स्वभाव नहीं है। इसीप्रकार आत्मा तो यथार्थतः अनाकुल स्वभावी ही है। अगर किसी कारणवश पर्याय में आकुलता उत्पन्न हो भी जावे तो वह स्वतः ही ज्यादा काल आत्मा में ठहर नहीं सकती, बिना प्रयास के भी स्वतः शान्त हो जाती है — क्योंकि आकुलता आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे अनुभव के आधार पर भी सिद्ध होता है कि आकुलता आत्मा का स्वभाव नहीं है। निराकुलता तो आत्मा का स्वभाव होने से उसका उत्पादन नहीं करना पड़ता। स्वभाव का कभी उत्पादन नहीं किया जाता। अत: सिद्ध है कि निराकुलता आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा सुखस्वभावी ही है

प्रश्न — आत्मा अनाकुल सुख का खजाना है, यह विश्वास कैसे किया जावे?

उत्तर — हमारे अनुभव में है कि आत्मा जब शान्त स्वभाव में विद्यमान रहता है तो वह अनाकुलता कहाँ से आ रही है? अगर कुएं में जल ही नहीं होगा तो पात्र में आवेगा कहाँ से? पात्र में आया है तो स्पष्ट है कि कुएं में जल था। इसीप्रकार आत्मा की व्यक्त पर्याय में जब निराकुलता आ रही है तो अगर उस का भण्डार आत्मा नहीं होता तो यह आती कहाँ से? अत: स्पष्ट है कि उक्त अनाकुलता का असीमित भण्डार आत्मा ही है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव समयसार के परिशिष्ट में आत्मा की अनन्त शक्तियों में से मात्र ४७ शक्तियों का ही स्वरूप बता पाये, उनमें ही एक सुख शक्ति भी बताई है, वह इसप्रकार है —

"अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ — "अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुखशक्ति।"

उपरोक्त आगम वाक्य से भी स्पष्ट है कि अनाकुलता ही आत्मा का स्वरूप अर्थात् स्वभाव है।

हरएक द्रव्य अपने-अपने अनन्तगुणों के समुदायरूप एक वस्तु है अर्थात् उस द्रव्य का अस्तित्व ही अपनी-अपनी अनन्त शक्तियों (गुणों) के समुदाय एक वस्तु के रूप में है। द्रव्य जहाँ जिस किसी स्थिति में हो, वो अपनी शक्तियों सहित ही रहेगा। क्योंकि वस्तुत्व नाम की शक्ति भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य में है, जिससे सभी शक्तियाँ द्रव्य में रहती हैं। द्रव्य का स्वभाव ही उत्पादव्ययध्रुवरूप है, जब द्रव्य ध्रुव रहते हुए परिणमन हर समय करेगा तो उसमें बसे हुए अनन्तगुण अर्थात् शक्तियाँ भी परिणमन करे बिना नहीं रह सकतीं; फलतः द्रव्य की हरएक शक्ति निरन्तर बदलती ही रहती है।

आत्मा भी एक द्रव्य है और वह उसमें बसे हुए अनन्तगुणों अर्थात् शक्तियों के समुदायरूप है। उसमें अनन्त शक्तियों में ही "सुख" नामक शक्ति भी है। जब द्रव्य शाश्वत सत् है तो उसकी सुख नाम की शक्ति भी त्रिकाल शाश्वत है। हर समय द्रव्य जब परिणमन करता है तो उसके सभी गुणों का परिणमन भी हुए बिना रह ही नहीं सकता। हमारे जो अनुभव में आता है वह परिणमन ही आता है। अतः स्पष्ट है कि सुख नाम की शक्ति भी निरन्तर परिणमन करती ही रहती है, उसका अनुभव ही हमको निरन्तर आता है। सुखशक्ति का स्वाभाविक प्रकाशन तो निराकुलतारूप ही होता है और आकुलतारूप परिणमन तो उसका विभाव रूप परिणमन है। ज्ञानीजीव के अनुभव द्वारा अनाकुल स्वभाव प्रमाणित भी हो जाता है।

ज्ञानीपुरुष ने ज्ञेयमात्र से अपनत्वबुद्धि का अभाव कर अपने ज्ञायक तत्त्व में अपनत्व स्थापन कर लिया है। फलतः ज्ञेयमात्र के प्रति परत्व बुद्धिपूर्वक उपेक्षितबुद्धि हो जाने से ज्ञान की परसन्मुखवृत्ति टूट जाती है और स्वज्ञेय की महिमा बढ़ जाने से उसके प्रति आकर्षण हो जाता है। फलस्वरूप आत्मा के उपयोग को स्वज्ञेय ही शरण लेने का एकमात्र स्थान रह जाता है। अतः जब यह उपयोग आत्मा में एकाकार होता है तब अपने ज्ञायक तत्त्व के अतिरिक्त अन्य ज्ञेयमात्र का तो अभाव रहता है। पर की ओर जाने का उत्साह निवृत्त हो जाने से ज्ञेयपरिवर्तन का भी अभाव होता जाता है; फलतः निराकुलता रूपी सुख का आस्वादन हो जाता है। इसी को स्वसंवेदनज्ञान कहा जाता है, आत्मा का अनुभव भी कहा जाता है। आत्मानन्द का अनुभव ही स्वसंवेदन ज्ञान का लक्षण है। ऐसी दशा प्राप्त हुए बिना सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा जीव जब एकबार उस आनन्द रस का स्वाद चख लेता है, तब उसकी श्रद्धा सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाती है और विश्वास जम जाता है कि मेरा सुख तो मेरे में ही है। उसके कारण उसको ज्ञेयमात्र में सुख नहीं भासता; इसलिए सुख की खोज में भटकने की बुद्धि का भी अभाव हो जाता है और निरन्तर आत्मतृप्ति बनी रहती है। ज्ञेयमात्र के प्रति उदासीनता अर्थात् उपेक्षा एवं जगत से उदासीनता वर्तती रहती है; इसही को व्यवहार आचरण की संज्ञा दी जाती है। ज्ञानी का अनन्तानुबन्धी के अभावात्मक परिणमन निश्चय चारित्र कहलाता है। चरणानुयोग इस ही का विस्तार है।

इसप्रकार उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि सुख नामक शक्ति आत्मा में है, जिसका लक्षण अनाकुलता है। अनाकुलता ही आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव स्वभाववान से कभी भी अलग नहीं होता अतः आत्मा भी अनाकुलतारूपी सुख से कभी अलग नहीं हो सकता। इसलिए जो भी निराकुलता (आकुलता की कमी) अनुभव में आ रही है, वह सब सुख शक्ति का ही स्वाभाविक प्रदर्शन है। आत्मा का अनाकुल अर्थात् सुखी रहने का स्वभाव है। अतः वह निरन्तर अनाकुलरूप ही रह सकता है और रहता हुआ हमारे अनुभव में भी आता है। जब यह आत्मा अपने ज्ञातास्वभाव को भूलकर परज्ञेयों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो उनमें से किसी को रखने रूप अथवा किसी को दूर करने रूप (हटाने रूप) प्रयत्न करता रहता है वह प्रयत्न ही स्वयं आकुलता है; वह प्रयत्न के अनुसार तीव्र अथवा मंद होती रहती है। इसके अतिरिक्त वह ज्यादा काल ठहरती भी नहीं, आकुलता, अभाव करने की ओर ढलने लगती है। लेकिन अज्ञानी जीव एक के बाद दूसरे ज्ञेयों के प्रति अथवा एक साथ अनेक ज्ञेयों के प्रति उपरोक्त प्रकार के प्रयत्न करने लग जाता है, अतः उसको निराकुलता तक पहुँचने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो पाता। अनादिकाल से इसीप्रकार करता चला आ रहा है। अज्ञानी आकुलता की मंदता को ही सुख मानकर संतोष कर लेता है। ऐसा इसको लगता ही नहीं है कि अनाकुलतारूपी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख भी हो सकता है? इस के कारण वह आकुलता के उत्पादक कारणों का पता भी नहीं लगाता फलतः कारणों के नाश का उपाय भी नहीं हो पाता, दुःख ही दुःख का भोक्ता बना रहता है। ऐसे जीव को अगर सत्शास्त्रों के अध्ययन, सत्समागम आदि के द्वारा यह समझ में आ जावे कि मेरा सुख तो मेरे आत्मा में ही है, सुख तो मुझे उसमें से ही प्राप्त होगा, जो मेरे द्रव्य में होगा वही तो पर्याय में आवेगा, मेरा सुख अन्य ज्ञेयों के पास है ही नहीं तो वे सुख दे भी कैसे सकेंगे? इत्यादि विश्वास जमने से उसके आकर्षण का केन्द्र आत्मा ही बन सकेगा और निराकुलतारूपी सुख प्राप्त करने का लक्ष्य भी बना लेगा। निराकुलतारूपी सुख की पराकाष्ठा ही मोक्ष है और उसको प्राप्त करने का उपाय ही मोक्षमार्ग है। इसप्रकार समस्त द्वादशांग, एकमात्र मोक्ष का मार्ग अर्थात् शाश्वत सुख का मार्ग बतलाने वाला ही है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है — "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि प्राणीमात्र को सुख चाहिए और उस सुख का भण्डार (खजाना) तो स्वयं मेरा आत्मा ही है सिद्ध भगवान को जो सुख प्रगट हुआ, वह भी उन्हीं के आत्मा में से निकला है। सुख की पराकाष्टा सिद्ध भगवान को प्रगट हुई है। अतः सुख के लिए मुझे एक अपने आत्मा का ही शरण लेना चाहिए, उपासना करनी चाहिए।

प्रवचनसार की गाथा १३ में कहा है कि —

अर्थ — "शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का (केवली और सिद्धों का) सुख, अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत (अतीन्द्रिय) अनुपम अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है। १३॥"

इसप्रकार आत्मा ही सुख का भण्डार है, यह ही परमसत्य है, परवस्तुओं में मेरा सुख है ही नहीं; अतः विषयों में से भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। प्रवचनसार की गाथा ६२ में भी दृढ़ता से कहा है —

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अर्थ — "जिनके घातिकर्म नष्ट हो गए हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है — ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते; वे अभव्य हैं और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं।"

इसप्रकार मेरा आत्मा ही मेरे सुख का खजाना है, यह स्वीकार कर पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि जागृत करने योग्य है।

वास्तव में सुख (निराकुलता) तो आत्मा का स्वभाव होने से, उसकी पर्याय में से भी निरन्तर सुख का ही प्रवाह निकलना चाहिये, दुःख तो निकल ही नहीं सकता। फिर भी अज्ञानीजीव मिथ्या मान्यता से अपने अनाकुलस्वभावी प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न कर सुख को दुःख में परिवर्तित कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी स्वयं दुःख का उत्पादन करता है। वास्तव में सुख का तो उत्पादन करना नहीं है, वरन् दुःख का उत्पादन रोकना है। अतः उत्पादक कारणों का अभाव करने का पुरुषार्थ आत्मा को करना चाहिए। यही एकमात्र सुखी होने का उपाय है।

ज्ञान एवं सुख से परिपूर्ण आत्मा का स्वभाव अरहंत के समान

प्रश्न — आत्मा ज्ञानस्वभावी एवं सुखस्वभावी होने पर भी उसके परिणमन में विपरीतता क्यों?

उत्तर — आत्मा के ज्ञानस्वभाव का एवं ज्ञेयों का स्वरूप भलेप्रकार समझना चाहिए। आत्मा एक पदार्थ द्रव्य है, वह अनन्त शक्तियों (गुणों) से सम्पन्न है। वे अनन्त शक्तियाँ निरन्तर परिणमन करती हुईं अर्थात् अपनी कार्य क्षमता को प्रदर्शित करती हुईं विद्यमान हैं। उनमें से ज्ञान का कार्य निरन्तर प्रकाशमान दिख रहा है, ज्ञानप्रकाश के द्वारा ही आत्मा (जीव) को पहिचाना जाता है। आचार्यों ने भी जीव को पहिचानने के लिए, लक्षण के रूप में ज्ञान का ही प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीप्रकार आचार्य महाराज ने सुख का लक्षण अनाकुलता (निराकुलता) कहा है। जिसप्रकार जीव को जानने के लिए ज्ञान लक्षण उपयोगी है, उसीप्रकार सुख को भी पहिचानने के लिए निराकुलता लक्षण उपयोगी है।

आत्मा को सुख चाहिए। सुख का अनुभव भी आत्मा को ही होगा अर्थात् सुख का स्वाद भी आत्मा ही लेगा। सुख भी आत्मा का स्वभाव है, अतः उसका स्वाद (अनाकुलता) है। ज्ञान का तो मात्र जाननेरूप ही कार्य होता है, उसमें विपरीतता नहीं होती। ज्ञान जब स्वपनेपूर्वक आत्मा को जानने में कार्यशील होता है तो सुखगुण का भी निराकुलतारूप स्वाभाविक परिणमन होता है और जब इसके विपरीत वही जब पर को स्व मानता है तो आकुलतारूपी दुःख का परिणमन होने लगता है।

इसलिए ज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानना जरूरी है, अन्यथा जानन क्रिया के साथ ज्ञेय का मिश्रण हो जाने पर हम उसको ही आत्मा का स्वरूप मान लेंगे, तब आत्मा को कैसे पहिचान पावेंगे? इस ही प्रकार जीव को सुख चाहिए, अगर सुख का यथार्थ लक्षण समझ में नहीं आवेगा तो वह दुःख की आंशिक कमी को ही आत्मा का सुख मानकर संतुष्ट हो जावेगा और यथार्थ सुख से वंचित रहेगा।

तात्पर्य यह है कि आत्मा अनन्त गुणों से समृद्ध होते हुए भी हमको उनमें से ज्ञान एवं सुख गुण का यथार्थ स्वरूप अवश्य समझना चाहिए। मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए दोनों अत्यन्त प्रयोजनभूत हैं।

जिसप्रकार शुद्ध स्वर्ण के स्वरूप को समझने के लिए उसके स्वरूप को समझना आवश्यक होता है, उस ही प्रकार जो आत्मा पूर्णदशा को प्राप्त हो चुकी है, जिनके द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों शुद्ध हो चुके हैं, ऐसी आत्मा के स्वरूप को समझना, अपने स्वभाव समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अरहंत भगवान एवं सिद्ध भगवान की आत्मा ही ऐसी आत्मा है जिनकी आत्मा में उपरोक्त गुणों की पूर्ण प्रगटता एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धता हो चुकी है, इस ही कारण वह परिपूर्ण सामर्थ्य की द्योतक है। उनकी जानकारी से हमारे निम्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं —

१. अरहंत भगवान के ज्ञान और सुख की जो सामर्थ्य आत्मा में विद्यमान थी, वही प्रगट हुई है। अतः वैसी ही सामर्थ्य मेरी आत्मा में भी हरसमय विद्यमान है। इसप्रकार मुझे मेरी सामर्थ्य का पूर्ण विश्वास जागृत हो जावेगा।

२. गुण का परिणमन तो हरसमय होता ही रहता है। अतः उपरोक्त दोनों गुणों की दशा जो मेरे में प्रगट हो रही है अथवा अनुभव में आ रही है, वह अरहन्त भगवान् के जैसी नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि मेरी वर्तमान दशा यथार्थ दशा नहीं है। अतः अपनी पर्याय को उनके समान करने के उद्देश्य से यथार्थ मार्ग खोज करने की आवश्यकता प्रगट होती है।

३. आत्मार्थी, उपरोक्त प्रकार से दोनों के अन्तर को समझ लेता है एवं उस अन्तर को अभाव करने की रुचि जागृत होती है तब उनके अभाव करने का मार्ग खोजता है। तथा गुणों के स्वाभाविक परिणमन के यथार्थ ज्ञान द्वारा अपने पुरुषार्थ की सफलता एवं शुद्धि की वृद्धि को भी नापता रहता है, और पूर्णता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता रहता है।

इसप्रकार शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से हमारे सर्वप्रयोजन सिद्ध होते हैं। इसी आशय का समर्थन प्रवचनसार की गाथा ८० में निम्नप्रकार किया है —

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

टीका — जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप, गुणरूप और पर्याय्र रूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है और अरहंत का स्वरूप, अन्तिम ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त सोने के स्वरूप की भांति, परिस्पष्ट (सर्वप्रकार से स्पष्ट) है, इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।"

इस गाथा के सम्बन्ध में हम विस्तार से चर्चा इसी पुस्तक के भाग ३ में कर चुके हैं। यहाँ तो मात्र इतना ही समझना है कि भगवान अरहंत की आत्मा में जो कुछ भी वर्तमान में प्रगट होकर प्रकाशमान हो रहा है, वह ही मेरी आत्मा का भी स्वभाव है। अन्तर तो मात्र प्रगटता (पर्याय में) ही है। अंत: अरहंत की आत्मा का स्वरूप जान लेने से उस अन्तर को दूर करने के पुरुषार्थ जाग्रत होने के साथ उपरोक्त तीनों ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं। अत: मुझे उनके ज्ञान और सुख की स्थिति समझनी चाहिए।

प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन की गाथा १९ में आचार्यश्री ने भगवान अरहंत की आत्मा के स्वरूप का वर्णन निम्नप्रकार किया है—

अर्थ — "जिसके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं, जो अतीन्द्रिय हो गया है, अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है और अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) तेज है वह (अरहंत) ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है।

टीका — शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से जिसके घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं, क्षयोपशमिक ज्ञान-दर्शन के साथ असंपृक्त होने से जो अतीन्द्रिय हो गया है, समस्त अन्तराय का क्षय होने से अनन्त जिसका उत्तमवीर्य है, समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का प्रलय हो जाने से अधिक जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज है — ऐसा यह आत्मा, समस्त मोहनीय के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाले आत्मा का अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्वपर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इसप्रकार आत्मा का ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है और स्वभाव पर से निरपेक्ष है इसलिए इन्द्रियों के बिना भी आत्मा के ज्ञान आनन्द होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी विषय को आचार्यश्री ने इस ही ग्रन्थ की गाथा ६८ में दृढ़ता से सिद्ध किया है कि सिद्ध भगवान की आत्मा को स्वपरप्रकाशकता लक्षण ज्ञान की परिपूर्णता एवं अनाकुलता लक्षण सुख की पराकाष्ठा द्वारा आत्मतृप्ति निरन्तर विद्यमान रहती है।

अर्थ – "जैसे आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज, ऊष्ण और देव है, उसीप्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी ज्ञान, सुख और देव हैं।"

इस गाथा की टीका में भी इसही अभिप्राय को निम्नप्रकार विस्तंरित किया है —

टीका के मध्य में – "इसीप्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपर को प्रकाशित करने में समर्थ निर्वितथ (सच्ची) अनन्त शक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, (२) आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली जो परिनिवृत्ति है उससे प्रवर्तमान अनाकुलता में सुस्थितता के कारण सौख्य है और (३) जिन्हें आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होने से देव है। इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभास (जो सुख के साधन नहीं हैं परन्तु सुख के साधन होने का आभासमात्र जिनमें होता है) ऐसे विषयों से बस हो।"

संक्षेप से विचार किया जाए तो भगवान अरहंत की आत्मा में ज्ञान की पूर्णता होकर स्व एवं पर समस्त, एकसाथ ज्ञान में ज्ञेय के रूप में उपस्थित हैं। अत: किसी के भी जानने की आकांक्षा का आत्यंतिक अभाव हो जाने से अन्य कुछ भी जानने सम्बन्धी आकुलता उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं रहता; इसलिए पूर्ण सुखी हैं।

अज्ञानी का ज्ञान परज्ञेयों में अपनेपन के साथ सुख मानने के कारण, अकेले परसन्मुख बना हुआ है। ज्ञेय अनन्त हैं; अत: सुख की खोज में अति तीव्रता से ज्ञेय परिवर्तन करता रहता है और अत्यन्त आकुलित बना रहता है। ज्ञानी का अभिप्राय सम्यक् अर्थात् अपने में अपनापन हो जाने पर भी राग के सद्भाव के कारण, उसका उपयोग भी जितना परलक्ष्यी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है; उतना तो आकुलित होता ही है। ज्ञानी को जितनी तीव्रता अथवा मंदतापूर्वक ज्ञेयपरिवर्तन होता है, उतनी ही आकुलता है। अतः सिद्ध है कि ज्ञेयपरिवर्तन ही आकुलता का उत्पादक है।

भगवान अरहंत की आत्मा को सभीप्रकार के राग का आत्यंतिक अभाव हो गया है। अतः आकुलता उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं रहा।

इसप्रकार भगवान अरहंत का ज्ञान एकमात्र अपने स्वज्ञेय में ही जम गया, रमगया, कीलित हो गया। अतः पूर्ण आनन्द का अनुभव करता हुआ अत्यन्त तृप्त-तृप्त बना रहता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि मैं आत्मा भी भगवान अरहंत की जाति का हूँ। मेरा स्वभाव सामर्थ्य भी वैसा ही है। अरहंत भगवान का आत्मा भी भूतकाल में निगोद से ही निकला था। उस समय उस आत्मा में उपरोक्त शक्तियाँ विद्यमान नहीं होती तो वर्तमान में जो प्रगट हुई हैं, वे कहाँ से आ जातीं? उसीप्रकार मेरी आत्मा भी पूर्ण शक्तिमान है। इसलिए भगवान अरहंत की आत्मा से मेरा आत्मा किंचित् भी न्यून नहीं है। अतः मुझे मेरी महत्ता विश्वास में आनी ही चाहिए। मेरी अधिकता भासित हुए बिना, ज्ञेयों के प्रति आकर्षण कैसे छूट सकता है।

ज्ञानस्वभाव

ज्ञानस्वभाव क्या है?

ज्ञान आत्मा का एक असाधारण गुणमात्र ही नहीं, असाधारण लक्षण भी है। जीवद्रव्य में ज्ञान नहीं होता तो जीव का अस्तित्व तो सिद्ध होता ही नहीं, वरन् सारे विश्व का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होता। कारण जगत के पाँचों द्रव्य तो अचेतन हैं, वे न तो अपने आपको जानते हैं और न पर को ही जानते हैं। अगर कोई जानने वाला पदार्थ जगत में नहीं होता तो उन द्रव्यों का भी अस्तित्व कौन बता सकता था? इसीप्रकार जीवद्रव्य भी जो कि स्वयं अनन्त गुणों (शक्तियों) का अखण्ड पिण्ड है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तित्व भी ज्ञान के अतिरिक्त कौन बता सकेगा? उनका अस्तित्व भी ज्ञान में ही प्रकाशित होता है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने समयसार के परिशिष्ट में ४७ शक्तियों के कथन के पूर्व निम्नप्रकार वर्णन किया है —

"परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक (आत्मा) ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणमित जो एक जाननक्रिया है, उस जाननक्रिया मात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिए आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एकभाव के भीतर आ जाने वाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। आत्मा के जितने धर्म हैं; उन सबको, लक्षण भेद से भेद होने पर भी, प्रदेश भेद नहीं है; आत्मा के एक परिणमन में सभी धर्मों का परिणमन रहता है; इसलिए आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं।"

ज्ञान की ऐसी कोई अचिन्त्य अद्भुत सामर्थ्य है कि उसकी स्वयं की स्वपरप्रकाशक शक्ति में अपनी स्वयं की अनन्त शक्तियों के साथ ही सारा विश्व एकसाथ ही हरसमय प्रकाशित होता रहे तो भी उसको कोई खेद नहीं होता। उस ज्ञान का सामर्थ्य तो इतना विशाल एवं गम्भीर है कि ज्ञेय और भी होते तो उनको भी आत्मा उस एक ही समय में सबके साथ जान लेता।

प्रवचनसार गाथा ३६ के भावार्थ के अंत में निम्नप्रकार आया है—

"इसप्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्व शक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरुद्ध है ॥ ३६ ॥"

इस ही ग्रन्थ की गाथा ४७ की टीका का निम्न अंश भी द्रष्टव्य है—

टीका — "क्षायिकज्ञान वास्तव में एक समय में ही सर्वतः (सर्वआत्म प्रदेशों से) वर्तमान में वर्तते तथा भूत-भविष्यतकाल में वर्तते,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन समस्त पदार्थों को जानता है, जिनमें पृथक रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमानजातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है।"

"अथवा अतिविस्तार से पूरा पड़े (कुछ लाभ नहीं) जिसका अनिवार (रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्व को जानता है।"

प्रश्न – अरहंत का आत्मा लोकालोक के सकल पदार्थों को एक समय मात्र में ही जान लेता है, लेकिन हमारा ज्ञान तो लम्बे काल में भी अति अल्प ज्ञेयों को जान पाता है। अतः हमारा आत्मा भी अरहंत जैसा ही है, ऐसा विश्वास में कैसे लाया जा सकेगा?

उत्तर – उपरोक्त प्रश्न द्रव्य (ध्रुव) और पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं होने का द्योतक है। मेरे द्रव्य (ध्रुव) का स्वभाव केवली के समान है; इसमें शंका का अवकाश नहीं है। पर्याय अपेक्षा तो प्रवचनसार की गाथा ३३ की टीका में आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि केवली भगवान लोकालोक को जानने के कारण केवली नहीं हैं। वरन् केवलज्ञान (क्षायिकज्ञान) के द्वारा अपने आत्मा को जानते हैं, इसलिए केवली हैं और हम (श्रुतज्ञानी) श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं; इसलिए श्रुतकेवली हैं। (यहाँ द्वादशांगपाठी श्रुतकेवली कहे जाते हैं, वह अपेक्षा नहीं है) आत्मा को जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी समान हैं, परज्ञेयों के कम ज्यादा जानने की अपेक्षा गौण हैं।

उक्त टीका निम्नप्रकार है –

टीका – "जैसे भगवान युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य विशेष युक्त केवलज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्व संवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं: उसीप्रकार हम भी **क्रमशः परिणमित** होते हुए **कितने ही चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा** अनादिनिधन- निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली है। (इसलिए) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, (हम तो) स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।"

भावार्थ – "भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं, मात्र इसलिए ही वे "केवली" नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानने की प्रगट पर्याय अनुभव करने से "केवली" कहलाते हैं। केवल (शुद्ध) आत्मा को जानने, अनुभव करने वाला श्रुतज्ञानी भी "श्रुत केवली" कहलाता है। केवली और श्रुतकेवली में मात्र इतना अन्तर है कि — जिसमें चैतन्य के समस्त विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं ऐसे केवलज्ञान के द्वारा केवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं और जिसमें चैतन्य के कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं: अर्थात् **केवली सूर्य के समान केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते और अनुभव करते हैं** तथा **श्रुतकेवली दीपक के समान श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते और अनुभव करते हैं, इसप्रकार केवली और श्रुतकेवली में स्वरूपस्थिरता की तरतमतारूप भेद ही मुख्य है, कम-बढ़ (पदार्थ) जाननेरूप भेद अत्यन्त गौण है।** इसलिए अधिक जानने की इच्छा का क्षोभ छोड़कर स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है। यही केवलज्ञान प्राप्ति का उपाय है॥ ३३ ॥"

इसही ग्रन्थ की गाथा ३२ के भावार्थ से भी यह सिद्ध होता है कि हमारा आत्मा भी केवली के समान है —

"इसप्रकार केवलज्ञान प्राप्त आत्मा पर से अत्यन्त भिन्न होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रत्येक आत्मा स्वभाव से केवली भगवान जैसा ही होने से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय से प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न है ॥ ३२ ॥"

उपरोक्त कथन यह सिद्ध करता है कि अरहंत भगवान का लोकालोक को जानना महत्वपूर्ण नहीं रहा। वरन् अपने आपको जानना ही महत्वपूर्ण है।

प्रश्न — जिनवाणी में लोकालोक को, एक ही समय जानने के कारण अरहंत की सर्वज्ञता की इतनी महिमा क्यों की गई है?

उत्तर — ज्ञान का स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक है। अतः अकेला स्वप्रकाशकपना महिमा योग्य नहीं है; उसीप्रकार अकेला पर प्रकाशकपना भी नहीं है। महिमायोग्य तो पूरा ज्ञानस्वभाव है। वह ज्ञान प्रकाश अरहंत भगवान को पूर्ण प्रकाशित हो गया, अतः ज्ञानस्वभाव के वर्णन में महिमा तो पूर्ण स्वभाव की ही की जाती है। लेकिन अज्ञानीजीव को स्वप्रकाशक ज्ञान की तो जानकारी ही नहीं है, मात्र परप्रकाशक ज्ञान ही उसके पास है, उसी का उसे अनुभव भी है।

अज्ञानी के परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति का विकास भी अति अल्प होता है, इस कारण विशेष जानने की लालसा तो निरन्तर बनी ही रहती है; फलस्वरूप निरन्तर दुःखी होता रहता है। ऐसे अज्ञानी को केवली के परप्रकाशक ज्ञान की महिमा बताने से ज्ञानस्वभाव की महिमा आ जाती है, अतः ऐसे अज्ञानी को स्वभाव की महिमा समझाने के लिए परप्रकाशक ज्ञान की मुख्यता से भी जिनवाणी में कथन किया गया है। फलस्वरूप तत्त्व अभ्यासपूर्वक यथार्थ श्रद्धा जागृत करने की पात्रता प्रगट हो जाती है।

ज्ञानी पुरुष वास्तविक सुख का खोजी होने से भगवान अरहंत के स्वपरप्रकाशक स्वभाव के स्वरूप को समझ लेता है। अरहंत भगवान का ज्ञान स्वज्ञेय में एकत्व होने से परम अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव कर रहा है। मैं स्वयं भी वैसा ही आत्मा हूँ। जब वे स्वज्ञेय में एकत्व करके आनन्द का अनुभव कर रहे हैं, तो मैं भी पर से अपनापना तोड़कर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परप्रकाशक ज्ञान एवं उसके विषय परज्ञेयों की महिमा का अभाव करके, मात्र स्वज्ञेय में ही एकत्व को प्राप्त करूँ तो मैं स्वयं भी उक्त आनन्द का अनुभव कर सकता हूँ। मेरे आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो वर्तमान में भी अरहंत जैसा ही है, परज्ञेयों की तरफ आकर्षित होने का मेरा स्वभाव ही नहीं है, इत्यादि विचारों से श्रद्धा में-विश्वास में अपने को अरहंत जैसा स्वीकार करता है। साथ ही ऐसी श्रद्धा जागृत करता है कि मेरे में मात्र वही सामर्थ्य है, जो कि वर्तमान में अरहंत भगवान कर रहे हैं; अतः मैं भी वैसा ही परिणमन करके भगवान बन जाऊँगा। इसप्रकार वह अपने लिए मोक्ष का मार्ग प्रारम्भ कर लेता है और उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता जाता है।

ज्ञानक्रिया का स्वभाव एवं कार्यपद्धति

***प्रश्न* —** उपरोक्त चर्चा से आत्मा का स्वभाव तो समझ में आता है; लेकिन उस आत्मा की जानने की प्रक्रिया अर्थात् आत्मा स्वपर को कैसे जानता है, यह स्पष्ट नहीं होता? अतः इस विषय पर भी स्पष्टीकरण आवश्यक है।

***उत्तर* —** जाननक्रिया स्वयं एक पर्याय है स्व को स्व के रूप में तथा पर को पर के रूप में जानना उसका स्वभाव है। उसका स्वामी ज्ञानगुण है, इसप्रकार आत्मा के ज्ञानगुण की, हर समय स्व-पर को जानने वाली नवीन-नवीन उत्पाद व्यय करती हुई जाननक्रिया एक पर्याय है। ज्ञान का कार्य मात्र जानने का है; लेकिन गुण तो ध्रुव अक्रिय रहता है; अतः उसका कार्य पर्याय द्वारा ही निरन्तर व्यक्त होता है। अतः ज्ञान की पर्याय, हर समय ज्ञान करती हुई उत्पन्न होती हुई व नाश को प्राप्त होती रहती हैं, पलटती रहती है अर्थात् ज्ञेयों के जानने की क्रिया में संलग्न रहती है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानने का है। अतः उसकी हर पर्याय का स्वभाव भी जानने का ही है। प्रवचनसार गाथा ४२ के भावार्थ में भी निम्नप्रकार कहा है —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"निर्विकार सहज आनन्द में लीन रहकर सहजरूप से जानते रहना वही ज्ञान का स्वरूप है: ज्ञेय पदार्थों में रुकना, उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।" (यहाँ ज्ञान शब्द गुण के अर्थ में है)

प्रश्न – ज्ञानगुण की पर्याय स्व को जाने अथवा पर को ?

समाधान – जब ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर को जानने का है तो वह किसको नहीं जाने ? वह तो जितना भी जो कुछ भी जानने योग्य हो, एक समय में ही सबको एक साथ जान लेवे — ऐसा उसका स्वभाव है 'ताकत है' सामर्थ्य है। प्रवचनसार गाथा ३६ की टीका में भी निम्नप्रकार कहा है—

"ज्ञानरूप से स्वयं परिणमित होकर स्वतंत्रतया जानता है इसलिए जीवद्रव्य ही ज्ञान है, क्योंकि अन्य द्रव्य इसप्रकार परिणमित होने तथा जानने में असमर्थ हैं और ज्ञेय, वर्तचुकी, वर्तरही और वर्तने वाली ऐसी विचित्र पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से अनादि अनन्त ऐसा द्रव्य है। (आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं) वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर (स्व और पर) ऐसे दो भेद से दो प्रकार का है। ज्ञान स्वपर ज्ञायक है, इसलिए ज्ञेय की ऐसी द्विविधता मानी जाती है।"

यही कारण है कि केवली भगवान के ज्ञान की पर्याय, सारे लोक में (स्व अथवा पर) जितने भी ज्ञेय हैं, सबको एक समय में ही एकसाथ जान लेती है। भगवान के ज्ञान की यह प्रगटता ही, ज्ञान की सामर्थ्य का प्रमाण है। विश्व के समस्त द्रव्यों में, प्रमेयत्व नाम का (ज्ञान में ज्ञेय के रूप में जानने में आ सके ऐसा) सामान्य गुण विद्यमान है। इसप्रकार ज्ञान में जानने की शक्ति और ज्ञेयों में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) शक्ति, निरन्तर त्रिकाल वर्त रही है। अतः समस्त द्रव्य ज्ञान के विषय बनना ही चाहिए। क्योंकि स्वभाव उस ही को कहा जाता है, जो अमर्यादित हो। अतः ज्ञानस्वभाव का जब पूर्ण विकास हो तो उसमें मर्यादा कौन कर सकेगा ? भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ज्ञान पर्याय पूर्ण विकसित हो गई है; अतः उसके ज्ञान में स्व तथा पर कुछ भी अज्ञात रह ही नहीं सकता। प्रवचनसार गाथा २८ की टीका से भी निम्नप्रकार समर्थन प्राप्त होता है —

"जिसप्रकार आँख, रूपी पदार्थों में प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँख में प्रवेश नहीं करते तो भी आँख रूपी पदार्थों के ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने, जानने के स्वभाव वाली है और पदार्थ स्वयं के ज्ञेयाकारों को समर्पित होने, जानने में आने योग्य स्वभाव वाले हैं; उसीप्रकार आत्मा पदार्थों में प्रवेश नहीं करता और पदार्थ आत्मा में प्रवेश नहीं करते, तथापि आत्मा पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों को ग्रहण कर लेने, जान लेने के स्वभाव वाला है और पदार्थ स्वयं के समस्त ज्ञेयाकारों को समर्पित हो जाने, ज्ञात हो जाने के स्वभाव वाले हैं।"

मेरे ज्ञान की पर्याय क्षायोपशमिक होने से अल्प विकसित है; इसलिए वह थोड़े ज्ञेयों को और परोक्ष जानती है, लेकिन जानने के स्वभाव में तथा जानने की प्रक्रिया में तो कोई अन्तर नहीं हो सकता। ज्ञान की जाति एवं स्वभाव तो ज्ञान ही रहेगा। हर समय स्व एवं पर दोनों को, एक ही साथ अपने में ही जानने के स्वभाव वाला रहेगा। सारांश यह है कि ज्ञान की अल्प विकसित पर्याय हो अथवा पूर्ण विकसित पर्याय हो, दोनों का स्वभाव तो एक सा ही बना रहेगा।

ज्ञान का स्वप्रकाशकपना कैसे?

प्रश्न — उपरोक्त सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी हमको तो ज्ञान में, मात्र पर पदार्थ ही ज्ञेय होते हुए मालूम पड़ते हैं स्व तो ज्ञात ही नहीं होता?

उत्तर — उपरोक्त प्रश्न का मूल कारण तो यह है कि हमको परप्रकाशकपने का कार्य तो अनुभव में आ रहा है, लेकिन वर्तमान में स्वप्रकाशकपने का कार्य देखने (अनुभव) में नहीं आ रहा; अतः एक ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव को स्वीकार करने में कठिनता प्रतीत होती है।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर को एक समय में एक साथ ही जानने का है, लेकिन छद्मस्थ को क्षायोपशमिक ज्ञान का सद्भाव होने से उसके ज्ञान की प्रगटता की ताकत ही एक समय मात्र एक को ही जानने की है। इसलिये जिसमें अपनत्व होता है, ज्ञान उस ओर ही जानने का कार्य करता है। ज्ञानी को स्व में अपनापन होता है; अतः उसका ज्ञान स्व की ओर आकर्षित होता है और अज्ञानी को पर में अपनापना होने से पर का ही ज्ञान होता रहता है।

आत्मा की ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य-कार्यक्षमता तो हर समय ऐसी है कि वह स्व तथा पर दोनों को एक साथ जानती है; लेकिन ज्ञान क्षायोपशमिक होने से उपयोग में दोनों एक साथ नहीं आते। वह उपयोग जब स्व को जानता है, तब उसी समय पर को नहीं जान पाता। इसीप्रकार पर को जानता है, तब उसी समय स्व को उपयोगात्मक नहीं जान पाता। यही कारण है कि हमको हमारे उपयोग में निरन्तर पर के कार्य ही दिखते रहते हैं स्व का तो अस्तित्व ही नहीं दीखता। क्योंकि हमने कभी अपने आत्मा को देखना तो दूर, देखने योग्य पात्रता अर्थात् रुचि भी उत्पन्न नहीं की। अनादि से पर में ही अपनापना एवं सुख मान रखा है; अतः पर को जानने की रुचि ही अनादि से निरन्तर चली आ रही है, इसलिए अज्ञानदशा में आत्मा मात्र पर को ही जानने वाला है, ऐसा दिखता है स्व का तो अस्तित्व ही नहीं दिखता।

अज्ञानी आत्मा को अपने उपयोग में जब क्रोध जानने में आता है, तब उसको मात्र क्रोध ही आत्मा का कार्य दिखता है। वह ऐसा मानता एवं कहता भी है कि मैं क्रोधी हो गया। इसीप्रकार मान दिखने पर मानी, लोभ दिखने पर लोभी आत्मा दिखता है और कहता भी है। इसीप्रकार शरीरादि दिखने पर मेरा शरीर, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा मकान इत्यादि रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही आत्मा को मानता एवं कहता है। इसप्रकार स्वयं जाननेवाला होने पर भी अज्ञान के कारण स्वयं का ही अस्तित्व दिखाई नहीं देता, विश्वास में नहीं आता, मात्र क्रोध शरीरादि पर का ही अस्तित्व दिखता है। आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की गाथा ३४४ की टीका में भी निम्नप्रकार कहा है —

"इसलिए ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव में अवस्थित होने पर भी कर्म से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञान रूप ज्ञान परिणाम को करता है — (अज्ञान रूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है।)"

इसी का समर्थन समयसार के बंध अधिकार कलश १६४ में भी किया है —

"कर्मबंध को करने वाला कारण न तो बहुकर्म योग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग है, न अनेक प्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है, किन्तु 'उपयोग भू' (उपयोगरूपी भूमि) अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है वही एकमात्र वास्तव में पुरुषों के बन्ध का कारण है॥ १६४ ॥"

इसप्रकार स्पष्ट है कि अज्ञानी आत्मा को, अपने आप के अस्तित्व का ही विश्वास नहीं होने के कारण, अपने स्वयं का कार्य जो ज्ञान का उपयोग, वह स्पष्ट दिखाई देने पर भी दिखाई नहीं देता, मात्र पर का अस्तित्व ही दिखता है। अज्ञानी कहता है, मुझे क्रोध आया, मान आया इत्यादि इस पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानी भी क्रोध की उत्पत्ति के काल में ही अव्यक्त रूप से अपने ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार तो कर रहा है और वह भी क्रोध के पहिले। तभी तो भाषा निकली है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि "मुझे क्रोध आया"। मुझे शब्द ही अपने ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध कर रहा है। ज्ञान का अस्तित्व नहीं होता तो क्रोध की सत्ता भी कैसे सिद्ध होती। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी-अज्ञानी सबको अव्यक्त रूप से अपने ज्ञान का अस्तित्व हर समय स्पष्ट भासता है।

समयसार की गाथा १७-१८ की टीका के अन्तिम चरण में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है —

"परन्तु जब ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आबालवृद्ध सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ अज्ञानी जन को, 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता।"

अज्ञानी को पर में एकत्व तथा रुचि होने से ज्ञान भी परलक्ष्यी बना रहता है; फलतः परज्ञेय ही प्रकाशित होता हुआ मालूम पड़ता है।

दूसरी अपेक्षा से भी विचार किया जावे तो जिस समय क्रोध उत्पन्न हुआ, उसी समय क्रोध को जानने वाली ज्ञानपर्याय भी तो उत्पन्न हुई है। आगे पीछे होना तो संभव भी नहीं है और दोनों का उत्पादन क्षेत्र भी आत्मा एक ही दिखता है, दोनों एक ही आत्मा की पर्यायें हैं। अज्ञानी दोनों का एक साथ होना स्वीकार भी करता है। फिर वह मात्र क्रोध का अस्तित्व तो मानता है और ज्ञान का अस्तित्व होते हुए भी उसकी ओर लक्ष्य भी नहीं करता? स्पष्ट है कि अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का, जो कि निरन्तर जानने का कार्य कर रहा है, उसका विश्वास ही नहीं हुआ। विश्वास नहीं हाने से, स्व को जानने की रुचि एवं उत्कंठा का ही अभाव है। अतः अपने आत्मा के स्वाभाविक कार्य की ओर देखता भी नहीं। यही कारण है कि उसको मात्र पर का अर्थात् क्रोध का ही अस्तित्व दिखता है और उस ही को आत्मा का कार्य भी मानता है। ज्ञानी की श्रद्धा, अज्ञानी की श्रद्धा से विपरीत है। इसलिए उसको हर एक पर्याय में ज्ञान का ही उत्पाद दिखता है, क्रोध तो परज्ञेय के रूप में भासता है। ज्ञानी, अज्ञानी में सबसे बड़ा अन्तर यही रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयसार के बन्ध अधिकार के कलश १६५ में इसी सिद्धान्त का निम्नप्रकार समर्थन किया है —

"इसलिए वह (पूर्वोक्त) बहुकर्मों से (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, वे (पूर्वोक्त) कारण भी उसके भले रहें और चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परन्तु अहो ! यह सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादि को उपयोग भूमि में न लाता हुआ, केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, किसी भी कारण से निश्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता। अहो ! देखो यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है।"

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का ज्ञान तो निरन्तर स्व तथा पर को एक साथ जानता हुआ ही प्रगट होता है।

सिद्धान्त की अपेक्षा भी समझा जावे तो जगत का हरएक द्रव्य हर समय परिणमन करता हुआ विद्यमान है। उनमें ही स्वयं का आत्मद्रव्य भी है। अतः वह भी हर समय परिणमन करता हुआ विद्यमान है। उसके परिणमन में हर एक गुण का परिणमन होना भी, स्वाभाविक है। उन गुणों में एक ज्ञानगुण भी है। ज्ञान का कार्य तो सबको जानना है। ज्ञान का ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह अनन्तगुणों में से किसी गुण को अथवा उसकी पर्याय को तो जाने और बाकी को छोड़ दे ? सभी द्रव्यों में प्रमेयत्व गुण होने से, ज्ञान तो उन के अंश को भी जाने बिना नहीं रह सकता ? ऐसी स्थिति में ज्ञान अपने ही द्रव्य का अथवा किसी अंश को अर्थात् पर्याय को न जाने, यह कैसे संभव हो सकता है ? अतः स्पष्ट है कि आत्मा के ज्ञान की हर एक पर्याय, स्व को जानते हुए ही पर को भी जानती है। मात्र अकेले पर को ही नहीं जान सकती। इस ही सिद्धान्त को नियमसार ग्रन्थ के शुद्धोपयोग अधिकार की अनेक गाथाओं द्वारा सिद्ध करते हुए गाथा १७९, टीका व श्लोकों में निष्कर्ष रूप से कहते हैं कि —

"ज्ञान जीव से अभिन्न है इसलिए वह आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आत्मा ज्ञान और ज्ञान आत्मा है ऐसा जान; इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्व-परप्रकाशक हैं ॥ १७९ ॥"

"आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान। स्व और पर ऐसे तत्त्वों को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है ॥ २८६ ॥"

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा ३६ की टीका में भी इसी विषय का समर्थन किया है —

"(आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य है) वह ज्ञेयभूतद्रव्य आत्मा और पर (स्व और पर) ऐसे दो भेद से दो प्रकार का है। ज्ञान स्वपरज्ञायक है, इसलिए ज्ञेय की ऐसी द्विविधता मानी जाती है।"

इसप्रकार सभी प्रकार से यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्व को जानते हुए ही पर को भी जानता है, मात्र पर को ही नहीं जानता।

अन्य अपेक्षा से भी विचार करें तो ज्ञान की पर्याय का स्वामी ज्ञानगुण का धारक द्रव्य है और वह पर्याय अपने स्वामी को ही न जाने ऐसा कैसे संभव हो सकता है? जबकि उस पर्याय का स्वभाव ही स्व-पर को जानने का है, वह अपने को ही न जाने? यह कैसी अटपटी कल्पना है। ज्ञान की पर्याय आत्मा के असंख्य प्रदेशों में व्याप्त है, उत्पाद स्थान भी उसके असंख्य प्रदेश ही हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों उसका स्वयं का आत्मा ही है, वह पर्याय स्वयं अपने द्रव्य में तन्मय होती हुई परिणमती है फिर भी वह अपने आप को न जाने ऐसी कल्पना तो वास्तविकता से अत्यन्त विपरीत एवं आधारहीन है।

यथार्थ स्थिति तो यह है कि आत्मा के अतिरिक्त जितने भी ज्ञेय हैं; उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही इस आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। यह ज्ञान की पर्याय उन तक तो पहुँच ही नहीं सकती। भिन्न प्रदेश होने से मिल भी नहीं हो सकती। अतः शंका तो ऐसी होना चाहिए कि परज्ञेयों को वह कैसे जान सकेगी? स्वयं अपने आपको जानने में तो शंका को स्थान ही नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा परज्ञेयों को कैसे जानता है ?

प्रश्न – यथार्थतः तो आत्मा अपने स्वज्ञेय को छोड़े बिना, पर में पहुँचे बिना, तथा पर के साथ सम्पर्क किये बिना भी पर को जान लेता है और आत्मा को पर का ज्ञान भी अवश्य होता है। अतः स्पष्टता आवश्यक है कि फिर वह जानना किसप्रकार होगा ?

उत्तर – यह तो निर्विवाद है कि हरएक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो उसका निजद्रव्य ही होता है और पर्याय अपने स्वद्रव्य में ही तन्मयतापूर्वक परिणमन करती है। उस पर्याय का कार्यक्षेत्र भी उसका निजद्रव्य ही होता है, किसी भी पर्याय का कार्यक्षेत्र अपने द्रव्य के बाहर हो ही नहीं सकता। इसप्रकार यथार्थतः आत्मा की ज्ञान पर्याय, अपने में रहते हुए ही जानती है।

सभी द्रव्यों में प्रमेयत्वगुण है, प्रमेयत्वगुण के कारण ही सब द्रव्य ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात हो सकते हैं। प्रमेयत्वगुण भी सब द्रव्यों में अपना-अपना है। हरएक द्रव्य अपने-अपने प्रमेयत्वगुण के स्वामी हैं। प्रमेयत्वगुण का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही उसका स्वद्रव्य है। अपने-अपने द्रव्य में तन्मय रहता हुआ ही वह प्रमेयत्वगुण परिणमन कर रहा है। ऐसी स्थिति में, ज्ञान में ज्ञेय के रूप में, ज्ञात होने वाले द्रव्यों के प्रमेयत्वगुण की पर्याय भी, अपने क्षेत्र को छोड़कर ज्ञान तक पहुँच नहीं सकती; लेकिन फिर भी ज्ञान में ज्ञेय के रूप में परपदार्थ प्रतिभासित होते तो दिखाई देते हैं।

अतः ज्ञाताद्रव्य की ज्ञानपर्याय एवं ज्ञेयद्रव्य की प्रमेयत्व पर्याय, दोनों के स्वतंत्र परिणमन होते हुए भी उनकी कार्यप्रणाली किसप्रकार है, यह समझना है ?

वास्तविकता तो यह है कि प्रमेयत्वगुण भी अपने द्रव्य में ही कार्यरत है, उसको किसी के भी ज्ञान का विषय बनने के लिए ज्ञाताद्रव्य के सन्मुख नहीं होना पड़ता। इसीप्रकार ज्ञानगुण भी अपने द्रव्य में ही कार्यरत है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको भी ज्ञेय के सन्मुख नहीं होना पड़ता। लेकिन इतना अवश्य है कि ज्ञानगुण की हर एक पर्याय इतनी सामर्थ्यवाली होती है कि वह अपने द्रव्य में ही रहकर स्व को जानते हुए, पर के सन्मुख हुए बिना भी अपनी सामर्थ्य विशेष के द्वारा, पर का ज्ञान भी कर लेती है। जानने के लिए ज्ञान को ज्ञेय के सन्मुख नहीं होना पडता, ज्ञेय के समीप नहीं पहुँचना पड़ता, ज्ञेय को भी स्वस्थान छोडकर ज्ञान तक नहीं आना पड़ता, न उसके सन्मुख होना पड़ता है, फिर भी ज्ञान अपनी सामर्थ्य विशेष से अपने में रहते हुए भी, पर को जान लेता हैं। यह ज्ञान की एक अद्‌भुत आश्चर्यकारी सामर्थ्य है।

समयसार गाथा ३७३ से ३८२ की टीका के अन्तिम चरण में निम्नप्रकार आया है, जिसके द्वारा उपरोक्त विषय स्पष्ट हो जाता है —

"इसीप्रकार दाष्टन्ति कहते हैं : बाह्यपदार्थ — शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है; उसीप्रकार, आत्मा को स्वज्ञान में (बाह्य पदार्थों के जानने के कार्य में) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान' और आत्मा भी लोहचुम्बक-पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भांति अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (बाह्य पदार्थों को) जानने को नहीं जाता। परन्तु वस्तु स्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए, आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की असमीपता में (अपने स्वरूप से ही जानता है) उसीप्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूप से ही जानते हुए (आत्मा) को वस्तु स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्यपदार्थ किंचितमात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इसप्रकार आत्मा दीपक की भांति पर के प्रति सदा उदासीन (अर्थात् सम्बन्ध रहित तटस्थ) है — ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो रागद्वेष होता है सो अज्ञान है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका समर्थन प्रवचनसार गाथा २९ की टीका में निम्नप्रकार किया है —

"जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्यों को स्वप्रदेशों के द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा ज्ञेय आकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है, उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता की विचारगोचरता से दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्वप्रदेशों से अस्पर्श करता है, इसलिए अप्रविष्ट रहकर जानता-देखता है तथा शक्तिवैचित्र्य के कारण वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मानों मूल में से उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है। इसप्रकार इस विचित्र शक्ति वाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्ध होता है।"

आत्मा की उपरोक्त शक्ति सामर्थ्य यह सिद्ध करती है कि आत्मा की ज्ञान की पर्याय, ज्ञेय की अपेक्षा रखे बिना स्वभाव से ही, अपने ज्ञान पर्याय के परिणमन को जानती है।

वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय अपने उत्पादकाल में उत्पन्न होते समय स्वयं इस योग्यतापूर्वक उत्पन्न होती है कि वह पर्याय अपने ज्ञान में किस ज्ञेय का ज्ञान करेगी। ज्ञान की पर्याय का कार्य है जानना। उस जानने के कार्य का क्षणिक उपादान कारण तो उस समय की पर्यायगत योग्यता है और निमित्त है, ज्ञेयवस्तु। उपादानरूप ज्ञान की पर्याय की योग्यता का परिणमन ज्ञेयवस्तु के आकाररूप होना है अर्थात् ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकाररूप परिणमना है। ज्ञेयवस्तु तो ज्ञान से अत्यन्त दूर रहते हुये, उस परिणमन में किंचितमात्र भी सहयोग अथवा असहयोग करती ही नहीं, वरन् उसको तो यह पता भी नहीं होता कि कौन उसको जान रहा है अर्थात् कौन उसके आकाररूप परिणमन कर रहा है। दोनों के अपने-अपने स्वतंत्र परिणमन हैं। दोनों ही अपने-अपने उपादान से अपने में परिणमन कर रहे हैं। लेकिन ज्ञान की पर्याय किसके आकार हुई है, यह बतलाने के लिए ज्ञान को ज्ञेयाकार कहकर, ज्ञेय का ज्ञान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ सम्बन्ध कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मा की ज्ञानपर्याय का, ज्ञेय के आकाररूप परिणमन तो स्वयं उस ज्ञान का है। यथार्थतः देखा जावे तो जिनको हम ज्ञेयाकार कह रहे हैं, वे तो ज्ञान के आकार ही हैं क्योंकि वह ज्ञान स्वयं ही उन ज्ञेयों के आकाररूप हुआ है।

प्रवचनसार गाथा २६ की टीका के अन्तिम चरण में कहा है —

"नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मस्थ (आत्मा में रहे हुए) देखकर ऐसा उपचार से कहा जाता है कि सर्वपदार्थ आत्मगत (आत्मा में) हैं, परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरे में गमन नहीं होता।"

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि न तो ज्ञेय के कारण ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है और न ज्ञान की पर्याय के कारण उस ज्ञेय में कुछ हुआ है। आत्मा का जाननेरूप परिणमन, ज्ञेय से अत्यन्त निरपेक्ष रहते हुए, अपनी स्वयं की योग्यतानुसार हर समय उत्पाद व्यय करता रहता है। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा की हर समय की पर्याय, अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार अपने कारण से जानती है और जिनको नहीं जानती वह भी, अपनी योग्यता के अभाव के कारण नहीं जानती। उस पर्याय के उत्पाद के लिए ज्ञेय की उपस्थिति, अनुपस्थिति अकिंचित्कर है। फिर भी वह पर्याय किस ज्ञेय के आकार है यह ज्ञान कराने के लिए ज्ञान का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध बताया जाता है कि वह पर्याय कौन से ज्ञेय के आकारवाली है। ज्ञेय तो अनन्त हैं और छद्मस्थ सबका ज्ञान एक साथ कर नहीं सकता अतः इस ज्ञान की पर्याय ने किसको जाना है, यह बतलाने के लिए ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध बताना अनिवार्य हो जाता है।

अन्य अपेक्षा से भी विचार करें तो ज्ञान की पर्याय का कार्य तो मात्र जानना है। जानने योग्य पदार्थ अर्थात् ज्ञेय तो, हर समय चेतन, अचेतन दोनों ही जाति के अनन्तानन्त द्रव्य हैं। वे ज्ञेयद्रव्य तो उस जानने की पर्याय तक पहुँचते ही नहीं और न ज्ञान को प्रेरणा ही करते हैं कि तू हमको जान।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

प्रश्न — इस स्थिति में यह ज्ञान पर्याय अमुक ज्ञेय को ही ज्ञान का विषय बनाती है, अन्य को नहीं बनाती, इसका क्या कारण?

उत्तर — स्पष्ट है कि यह उस ज्ञान पर्याय का ही पूरा-पूरा कार्य है कि वह किसको जाने और किसको न जाने। निष्कर्ष है कि तत्समय की ज्ञान पर्याय की योग्यतानुसार ही पदार्थ उस ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, अन्य नहीं बन पाते। केवली भगवान की पर्याय की योग्यता इतनी विकसित होगई कि लोकालोक के समस्त पदार्थों को जान लेती है। इसीप्रकार हम छद्मस्थों के भी जानने की योग्यता में अन्तर होने से, जानने की क्षमता में भी प्रत्यक्ष अन्तर ज्ञात होता है।

पाँचों इन्द्रियों के सामने अनेक ज्ञेय उपस्थित होते हुए भी हमको ज्ञात नहीं होते और जो उपस्थित नहीं होते वे ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं। जैसे भोजन करते समय अगर हमारा उपयोग अन्य तरफ चला जाता है तो भोजन में क्या खाया क्या स्वाद था यह भी पता नहीं रहता और जहाँ उपयोग चला गया वह ज्ञात होने लगता है। इसीप्रकार रात को सोते समय जो भी स्वप्न में जानने में आया वो पदार्थ कहाँ है? रस्सी सामने पड़ी हो फिर भी ज्ञान में सर्प दिखने लगता है इत्यादि। इससे सिद्ध है कि ज्ञान पर्याय की योग्यता जैसी होती है ज्ञानक्रिया में वे ही ज्ञेयाकार बनते हैं। इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय का स्वतंत्र परिणमन ही निरन्तर प्रकाशमान है।

प्रवचनसार गाथा २६ की टीका में भी कहा है कि —

"वहाँ (ऐसा समझना कि) निश्चयनय से अनाकुलता लक्षणसुख का जो संवेदन उस सुख संवेदन के अधिष्ठानता जितना ही आत्मा है और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। उस निज-स्वरूप आत्म-प्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना, समस्त ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना, भगवान सर्वपदार्थों को जानते हैं। निश्चयनय से ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं और निमित्तभूत ज्ञेयाकारों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मस्थ (आत्मा में रहे हुये) देखकर ऐसा उपचार से कहा जाता है कि सर्व पदार्थ आत्मगत हैं; परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरे में गमन नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ट (अर्थात् अपने-अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित) हैं।"

इस ही गाथा में आये ज्ञेयाकारों का भाव स्पष्ट करते हुए टिप्पणी में लिखा है कि 'इन ज्ञेयाकारों को ज्ञानाकार भी कहा जाता है, क्योंकि ज्ञान इन ज्ञेयाकार रूप परिणमित होता है।'

प्रवचनसार गाथा ३१ के भावार्थ में दृष्टान्त द्वारा इसको सिद्ध किया है —

"इसीप्रकार ज्ञानदर्पण में भी सर्वपदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों के प्रतिबिम्ब पडते हैं अर्थात् पदार्थों के ज्ञेयाकारों के निमित्त से ज्ञान में ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्वपदार्थों को नहीं जान सकेगा।) वहाँ निश्चय से ज्ञान में होने वाले ज्ञेयाकार ज्ञान की ही अवस्थायें ज्ञानाकार हैं पदार्थों के ज्ञेयाकार कहीं ज्ञान में प्रविष्ठ नहीं हैं।"

उपरोक्त चर्चा का तात्पर्य यह है कि ज्ञान में जो ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं, वे सब ज्ञान की स्वयं की अवस्थायें हैं, यथार्थतः वे ज्ञेयाकार नहीं वरन् ज्ञानाकार ही हैं लेकिन उन ज्ञानाकारों का परिचय देने के लिए ज्ञेयों को माध्यम बनाकर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान ने अमुक ज्ञेय को जाना, इसप्रकार उन ज्ञानाकारों का परिचय दिया जाता है। उन ज्ञानाकारों का उदय, उस समय की ज्ञानपर्याय की योग्यता को प्रसिद्ध करता है, ज्ञेय को नहीं।

इसप्रकार ज्ञेयों से निरपेक्ष वर्तते हुए ही उस ज्ञान पर्याय का अस्तित्व है। यही कारण है कि ज्ञान को ज्ञेयकृत अशुद्धता भी नहीं होती। इस पर भी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी को, उन ज्ञानाकारों का उत्पादक ज्ञेय प्रतिभासित होता है, इसलिये वह अपने आत्मा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय छोड़कर ज्ञेयों के परिवर्तन करने की चेष्टा में संलग्न रहता है फलतः निरन्तर आकुलित बना रहता है।

ज्ञान में स्व के माध्यम से पर का ज्ञान होता है

ज्ञानस्वरूपी आत्मा का कार्य तो जाननक्रिया ही है। उस जाननक्रिया का क्षेत्र भी आत्मा के असंख्य प्रदेश ही हैं। हर एक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए ही पणिमती है। अन्य द्रव्य के क्षेत्र में वह कुछ करे, यह संभव ही नहीं है। यही कारण है कि वह द्रव्य अपनी पर्याय का फल, स्वयं ही भोगता है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा जानने का कार्य्र अपने क्षेत्र में ही रहकर करती है और ज्ञानक्रिया स्व-पर प्रकाशक होने पर भी उसका भी क्षेत्र तो उसका आत्मा ही होता है; क्योंकि पर संबंधी ज्ञेयाकार भी अपनी ज्ञान पर्याय ही है। तात्पर्य स्पष्ट है कि आत्मा के ज्ञान का विषय सीधा पर पदार्थ नहीं हो सकता, निज आत्मा ही होता है। ज्ञानक्रिया तो आत्मा की है और उसके जानने का कार्यक्षेत्र भी स्वआत्मा ही है तो फिर उसका विषय भी आत्मा से बाहर अन्य कैसे हो सकता है। अतः सिद्ध है कि आत्मा यथार्थतः स्वमुखापेक्षी होकर ही जानने की क्रिया करता है। लेकिन उस ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें स्व के अतिरिक्त परज्ञेयों सम्बन्धी ज्ञेयाकार भी निरन्तर विद्यमान रहते हैं। अतः स्व के माध्यम से ही पर का ज्ञाता भी आत्मा है। इसलिए स्व के साथ ही पर का ज्ञान भी आत्मा को हुए बिना रह ही नहीं सकता। ऐसा ही ज्ञान का एवं ज्ञान की पर्याय का अचिन्त्य अद्भुत स्वभाव है।

ज्ञान के परिणमन की वर्तमान दशा के सम्बन्ध में भी विचार करें तो हमारे अनुभव में आवेगा कि मेरा ज्ञान भी स्व के माध्यम से ही पर को जानता है। जैसे क्रोध की उत्पत्ति के समय सहज ऐसी भाषा निकलती है कि मुझे क्रोध आया। यह भाषा भी इसी को सिद्ध करती है कि क्रोध की जानकारी भी ज्ञान में आती है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रोध के समय ही क्रोध की जानकारी करता हुआ ज्ञान उपस्थित था और उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानक्रिया को ही 'मुझे' के नाम से बोला जा रहा है। अगर उस समय जाननेवाला ज्ञान उपस्थित नहीं होता तो क्रोध के अस्तित्व का ज्ञान ही कैसे हो सकता था। यह भी खास ध्यान में लेने योग्य है कि मुझे स्वयं का अस्तित्व अव्यक्तरूप से क्रोध के पहिले ज्ञान में आता है, तभी तो ऐसी भाषा निकलती है कि 'मुझे क्रोध आया'। इसप्रकार हमारा उक्त प्रकार का सहज परिणमन भी यह सिद्ध करता है कि आत्मा के ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्व के माध्यम से ही पर का ज्ञान करता है अर्थात् स्व के सन्मुख रहते हुए ही पर सम्बन्धी ज्ञेयाकारों की भी जानकारी करना ज्ञान का स्वभाव है।

अनादिकाल से ज्ञान का उपरोक्त स्वभाव एवं परिणमन होने पर भी अज्ञानीजीव की श्रद्धा विपरीत होने से अपने में अपनापना एवं अस्तित्व का ही विश्वास नहीं है, परपदार्थों में अपनापन मानता चला आ रहा है। अत: अपनी ज्ञानपर्याय में, स्व तथा पर दोनों प्रकाशित रहने पर भी स्वज्ञेय को जानने की रुचि ही नहीं होने से मात्र पर को ही मुख्य अर्थात् लक्ष्य बनाता है। अत: पर के ज्ञान का ही अस्तित्व दीखता है। इसलिए इस पर उसको विश्वास ही नहीं होता कि आत्मा स्व को भी जानता है और पर का ज्ञान भी स्व के माध्यम से होता है।

समयसार की गाथा १७-१८ की टीका का अन्तिम भाग मननीय है —

"परन्तु जब ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आबालवृद्ध सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व (अपनत्व) के निश्चय से मूढ़ अज्ञानी जन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता।"

जाननक्रिया का स्वभाव ज्ञेय निरपेक्ष वर्तना ही है

जाननक्रिया का उत्पादक एवं आधार ज्ञानस्वभावी आत्मा ही है। और उसका उत्पादन क्षेत्र भी आत्मा ही है। ज्ञानक्रिया से भिन्न, ज्ञेय का क्षेत्र, उत्पादक एवं आधार सब अन्य ही हैं। अत: जाननक्रिया के परिणमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ज्ञेय का सहयोग तो दूर, अंशमात्र अपेक्षा भी नहीं हैं। जाननक्रिया का ज्ञेय कौन हो? इसका नियामक भी वह जाननक्रिया ही है। ज्ञेय का तो उनमें किंचितमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है और न हो ही सकता है, क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं। अत: ज्ञान तो ज्ञेय से अत्यन्त भिन्न रहते हुए, पर निरपेक्ष ही वर्तता है।

परीक्षामुख पंचम परिच्छेद के सूत्र १ में सम्यग्ज्ञान का फल कहा है —

"अज्ञान निवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"

अर्थ — "प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का फल अज्ञान निवृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है।"

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न हुआ ज्ञान, ज्ञेयों को जानते समय ही उनसे उपेक्षित रूप ही वर्तता है। प्रवचनसार गाथा ४२ के भावार्थ में भी कहा है कि —

"ज्ञान का स्वरूप है कि सहजरूप से जानते रहना, ज्ञेयों में रुकना अथवा उनके सन्मुखवृत्ति होना ज्ञान का स्वरूप नहीं है।"

अन्य दृष्टिकोण से भी विचार करें तो स्पष्ट होगा कि ज्ञान की जाननक्रिया को, पर अर्थात् ज्ञेयों की कोई अपेक्षा नहीं है। यथा आत्मा की जाननक्रिया का कार्यक्षेत्र तो आत्मा ही है तथा स्वामी भी आत्मा ही है। अत: जाननक्रिया का विषय भी स्व ही होना चाहिये। पर्याय अपने द्रव्य को छोड़कर बाहर तो जा नहीं सकती, अत: जानेगी तो अपने को ही तो जानेगी और उस ज्ञान पर्याय में स्वसम्बन्धी ज्ञेयाकार तथा परसम्बन्धी ज्ञेयाकार एक साथ ही जानने के लिए उपलब्ध हैं, अत: जानने के लिए उसको ज्ञेय के सन्मुख क्यों होना पड़ेगा? और न ज्ञेय को भी स्वस्थान छोड़कर ज्ञान के सन्मुख आना पड़ेगा? फलत: ज्ञेयकृत पराधीनता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न — ज्ञान पर्याय को उन ज्ञेयाकारों रूप परिणमित कराने वाला कौन है? ज्ञेयाकार शब्द से ही ऐसा लगता है कि ज्ञेय के बिना ज्ञेय के आकार ज्ञान का परिणमन कैसे हो सकेगा? अतः ज्ञेयाकार होने में तो ज्ञान को ज्ञेय की पराधीनता है, ऐसा लगता है?

उत्तर — ऐसा कदापि संभव नहीं है। कारण किसी द्रव्य की कोई भी पर्याय किसी अन्य के अधीन हो ही नहीं सकती। क्योंकि हर एक द्रव्य "उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्" है हर एक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय का उत्पादक है ऐसी स्थिति में उस ज्ञान की पर्याय को ज्ञेयाकाररूप कराने वाला अन्य कोई, कैसे हो सकता है?

उपरोक्त विषय पर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपनी पुस्तक क्रमबद्धपर्याय के पृष्ठ ५१ से ५३ तक सांगोपांग चर्चा की है। वह निम्नप्रकार है —

"ज्ञान की प्रत्येक पर्याय स्वकार्य करने में परमुखापेक्षी नहीं है। वह अपने में परिपूर्ण है, स्वकार्य करने में पूर्ण सक्षम है, पूर्ण सुयोग्य है। उसकी योग्यता में उसका ज्ञेय भी निश्चित है। ज्ञान की जिस पर्याय में जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता है, वह पर्याय उसी ज्ञेय को अपना विषय बनायेगी, उसमें किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं चल सकता।

यह एक ध्रुवसत्य है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है; अन्यथा ऐसा क्यों होता कि जो ज्ञेय सामने है उसका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने नहीं हैं क्षेत्र, काल, से दूर हैं, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है, नव विवाहित आफीसर को सामने बैठा क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपितु आफिस से दूर घर में या पीहर में बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है।

इसीप्रकार का एक श्लोक प्रमेयरत्नमाला में आता है -

'पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेदे।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारागार में बन्द कोई कामी कहता है कि यद्यपि कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सुई के अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता तथा मैंने अपने दोनों नेत्र बन्द कर रखे हैं, तथापि मुझे अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है। इसका तात्पर्य सह है कि क्षयोपशम ज्ञान में जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होती है, उस समय वही ज्ञेय ज्ञान का विषय बनता है, अन्य नहीं।

इस बात को न्यायशास्त्र के परीक्षामुख ग्रन्थ अध्याय २ के निम्न लिखित सूत्र से भलीप्रकार समझा जा सकता है —

'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति॥ ९॥'

'स्वावरणक्षयोपशम है लक्षण जिसका — ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है कि ज्ञान किसको जाने।'

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने इसकी चर्चा चल रही है। केवलज्ञान में तो यह प्रश्न ही सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो एक समय में ही लोकालोक को जानता है।

बौद्धों का यह कहना है कि ज्ञान, ज्ञेय से उत्पन्न होता है, ज्ञेयाकार होता है और ज्ञेयों को जानने वाला होता है; जिसे वे तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैनों को उक्त बात स्वीकार नहीं है।

इस सन्दर्भ में वे जैनों से पूछते हैं कि यदि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता तो फिर तुम्हारे यहाँ ज्ञान अमुक ज्ञेय को ही क्यों जाने, अन्य को क्यों नहीं — इसका नियामक कौन होगा? बौद्धों के यहाँ तो जो ज्ञान जिस ज्ञेय से उत्पन्न होता है, उसी को जानता है — यह व्यवस्था है। जैनों में इस सन्दर्भ में क्या व्यवस्था है, इसके उत्तर में उक्त सूत्र आया है। जिसका आशय है कि योग्यता ही इसकी नियामक है अर्थात् ज्ञान की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षित पर्याय में जानने की क्षमता के साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वह किस ज्ञेय को जानेगी।

योग्यता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम है लक्षण जिसका ऐसी योग्यता अर्थात् उस योग्यता में जिस ज्ञेय को जानना है, तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यता में ही सम्मिलित है। जब ज्ञान का ज्ञेय भी निश्चित है तो फिर यह बात कहाँ रह जाती है कि क्या जाने और क्या न जाने — इसका विवेक तो करना ही होगा, इस दिशा में कुछ न कुछ तो करना ही होगा।

तुझे इतना भी भार माथे पर नहीं रखना है तब निर्भार होगा और तभी ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय आत्मस्वभाव बनेगा अर्थात् दृष्टिस्वभाव सन्मुख होगी। दृष्टि के स्वभाव सन्मुख होने का एकमात्र उपाय यही है।"

उपरोक्त विषय का समर्थन न्यायदीपिका में भी निम्नप्रकार किया है।

"योग्यतैव विषय प्रतिनियम कारणमिति

अर्थात् योग्यता ही विषय का प्रतिनियामक कारण है।"

इसप्रकार निश्चित होता है कि ज्ञान की ज्ञेयाकार दिखने वाली पर्याय भी यथार्थतः ज्ञेय के आकार नहीं बन गई है, प्रत्युत वह तो उस ज्ञान की पर्यायगत योग्यता के सामर्थ्य का प्रकाशन ही है। ज्ञान पर्याय तो यथार्थतः ज्ञानाकार रहते हुए ही परिणम रही है। लेकिन उस समय उस पर्याय का परिचय कराने के लिए उस ज्ञेय को माध्यम बनाकर यह कहा जाता है कि अमुक पर्याय अमुक ज्ञेय के आकार हो गई अर्थात् उस पर्याय का ज्ञेय अमुक वस्तु हुई, अन्यथा अमुक ज्ञान पर्याय ने किस ज्ञेय को जाना, इसका परिचय कैसे प्राप्त होता? वास्तविकता तो यह है कि उक्त पर्याय के साथ ज्ञेय का सम्बन्ध ही घटित नहीं होता। ऐसी स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ज्ञान को ज्ञेयकृत पराधीनता सिद्ध हो ही नहीं सकती। ऐसे ही पवित्र सम्बन्ध को आगम में ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध कहा है। वास्तविकता तो यह है कि आत्मा का किसी के साथ कोई प्रकार का सम्बन्ध है ही नहीं।

समयसार ग्रन्थ के सर्वविशुद्धिज्ञान अधिकार में कलश २०० के द्वारा कहा भी है कि —

नास्ति सर्वोपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥

अर्थ — परद्रव्य और आत्मतत्त्व को कोई भी संबंध नहीं है; इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

समयसार कलश २२२के अर्थ में भी स्पष्ट किया है कि ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा को विकारी नहीं कर सकता।

अर्थ — पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध निर्विकार ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से किंचित मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, जैसे दीपक प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता।

उक्त समस्त कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञेय का ज्ञान वर्तते हुए भी ज्ञान का परिणमन तो ज्ञेय से निरपेक्ष ही वर्तता रहता है। ऐसी वस्तुस्थिति समझ में आ जाने पर, अपने स्वभाव एवं हर एक पर्याय की स्वतंत्रता का विश्वास प्रगट होकर, अपने स्वभाव की उत्कृष्ट महिमा जागृत होती है। पूर्णता प्राप्त करने के लिए पर की ओर की भिक्षावृत्ति समाप्त होने लगती है। अपनी शान्ति सुख प्राप्त करने के लिए पर का आकर्षण तो दूर, पर की ओर झांकने का भी उत्साह नहीं रहता। पर के कर्तृत्व का भारी बोझा समाप्तप्रायः होने लगता है। फलतः ऐसा आत्मा अपने को अत्यन्त निर्भार अनुभव करते हुए आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञेय को जानने वाला ज्ञान, ज्ञेय निरपेक्ष कैसे?

जो ज्ञान ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञेय से सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वह ज्ञान उससे निरपेक्ष ही तो रहता है; क्योंकि इसप्रकार के वर्तने में राग का उत्पादन नहीं होता। ज्ञान, ज्ञेय को अगर सम्बन्धपूर्वक जानता है तो नियम से राग उत्पन्न होगा? केवली भगवान अपने आत्मस्वभाव (ज्ञायकस्वभाव) में एकत्वपूर्वक लीन वर्तते हुए अनन्तज्ञेयों को जानते हुए भी उन ज्ञेयों के प्रति निरपेक्ष बने रहते हैं। इससे ज्ञान का स्वभाव स्पष्ट समझ में आ जाता है कि आत्मस्थज्ञान, ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञेय निरपेक्ष वर्तता है। प्रवचनसार गाथा ४२ के भावार्थ में कहा है कि "निर्विकार सहज आनन्द में लीन रहकर सहज रूप से जानते रहना वही ज्ञान का स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थों में रुकना उनके सन्मुखवृत्ति होना वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।"

इसप्रकार स्पष्ट है कि जो ज्ञान अपने स्वामी ज्ञायकस्वभाव के साथ एकत्वपूर्वक तन्मय होकर परिणमन करे, वह ज्ञान ज्ञेयों से अत्यन्त निरपेक्ष रहते हुए ही परिणमन करता हे।

प्रश्न — ऐसी निरपेक्षता तो क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) में ही संभव है हम छद्मस्थों का क्षायोपशमिक ज्ञान ज्ञेय निरपेक्ष कैसे वर्त सकता है?

उत्तर — ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेयनिरपेक्ष वर्तना ही है, क्षायिकपना अथवा क्षायोपशमिकपना दोनों ही दशाओं में स्वभाव तो वैसा का वैसा अपरिवर्तित ही रहता है। अतः सिद्ध है कि ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेय निरपेक्ष वर्तना ही है।

निरपेक्ष ज्ञान भी राग का उत्पादक क्यों दिखता है?

प्रश्न — जब ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय निरपेक्ष वर्तना ही है तो हमारा ज्ञान, ज्ञेय निरपेक्ष क्यों नहीं वर्तता?

उत्तर — उक्त प्रकार से मोक्षमार्ग एवं संसारमार्ग दोनों के कारणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समावेश है। अत: इस विषय को मनोयोगपूर्वक समझने से यथार्थ मार्ग का एवं कर्तव्य का ज्ञान आत्मा को हो जाता है।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड एकद्रव्य है। उसमें अकेला ज्ञानगुण ही नहीं, वरन् ज्ञानगुण के साथ ही हर समय अनन्तगुणों का परिणमन भी होता रहता है। आत्मा की एक समय की पर्याय में अनन्त गुणों का कार्य सम्मिलित है। लेकिन उस सम्मिलित कार्य को प्रसिद्ध (प्रगट) करने वाला तो एक ज्ञानगुण ही है। वह स्वपरप्रकाशकस्वभावी होने के कारण ज्ञानगुण के कार्य के साथ-साथ अन्य सभी गुणों के कार्यों का प्रकाशन भी करता हैं। अत: उस ज्ञानगुण की पर्याय में अनन्तगुणों के कार्यों को भिन्न-भिन्न देखने से ही यथार्थ समझ उत्पन्न हो सकती है।

समयसार परिशिष्ट के पृष्ठ ५८७ पर ४७ शक्तिप्रकरण का उपोद्घात करते हुए कहा है।

"परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणमित जो एक जाननक्रिया है उस जाननक्रिया मात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिए) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा के एक परिणमन में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिए आत्मा के ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिए ज्ञानमात्र भाव में-ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।"

उपरोक्त कथन को सुनकर, ज्ञान को ही अन्य गुणों के दोषों का उत्तरदायी नहीं मान लेना चाहिए। ज्ञान तो मात्र सब गुणों के परिणमनों का प्रकाशक है। इस दृष्टिकोण को रखकर अगर हम ज्ञान पर्याय का विश्लेषण करेंगे तो हमको स्पष्ट हो सकेगा कि जिसका उत्तरदायी हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खोजना चाहते हैं, वह कौन है? यथार्थ उत्तरदायी खोज लेने पर उस रोग का उपचार भी संभव हो सकेगा और हमारा रोग भी दूर हो सकेगा। अन्यथा वह रोग दूर नहीं हो सकेगा, अतः हमको आत्मा की पर्याय की स्थिति स्पष्ट समझना चाहिए।

उक्त दृष्टिकोण से विचार करें तो आत्मा के ज्ञान का स्वभाव तो स्वपरप्रकाशक है। वह तो किसी के साथ कोई प्रकार का सम्बन्ध जोड़े बिना सबसे निरपेक्ष रहते हुए सहजरूप से स्व एवं पर को प्रकाशित करने मात्र का कार्य करता है। जैसा प्रवचनसार गाथा ४२ में कहा है —

'निर्विकार सहज आनन्द में लीन रहकर सहजरूप से जानते रहना वही ज्ञान का स्वरूप है, ज्ञेय पदार्थों में रुकना, उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।"

इससें यह निर्णय होता है कि ज्ञेयो के साथ सम्बन्ध जोड़ने का कार्य ज्ञान का नहीं होकर किसी अन्य का ही है।

आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त , अन्य गुणों में एक श्रद्धा एवं एक चारित्र नाम का गुण भी है। इन दोनों गुणों के कार्य भी अपने-अपने भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान में जो पर ज्ञेय के रूप में प्रतिभासित हो रहे हैं, उनमें से,किसी एक को अपना मानें अर्थात् उसमें अपनेपन की मान्यता स्थापन करें, यह श्रद्धा गुण का कार्य है। चारित्र गुण का कार्य है कि जिसमें श्रद्धा ने अपनापन स्थापन किया उस ही में लीन होकर परिणमने लगना।

वास्तव में राग का उत्पादक कौन?

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ज्ञान को राग का उत्पादक मानना तो स्पष्ट अज्ञान है। तब सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि राग का उत्पादक कौन है ? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप समयसार गाथा ३७१ की टीका में आचार्यश्री ने स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान दिया है, वह निम्नप्रकार है —

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

"**प्रश्न** — यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है?

उत्तर — किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न — तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है?

उत्तर — राग-द्वेष-मोहादि, जीव के अज्ञानमय परिणाम हैं अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है।"

इस ही का समर्थन कलश २१८ की टीका में किया है कि —

"इस जगत में ज्ञान (आत्मा) ही अज्ञानभाव से रागद्वेषरूप परिणमित होता है" तथा कलश २२० में भी कहा है कि "इस आत्मा में जो रागद्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है।" इसप्रकार निश्चित होता है कि ज्ञान तो राग का उत्पादक है ही नहीं; ज्ञानस्वरूपी आत्मा में अपनापना मानना छोड़ देना अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा ही हूँ ऐसी श्रद्धा को छोड़ देने स्वरूप अज्ञानता ही राग की उत्पादक है।

वास्तव में अज्ञानी का भी ज्ञान रागादि का उत्पादक नहीं है। ज्ञान तो स्वाभाविक भाव है और रागादि तो विकारीभाव हैं। क्रोध की उत्पत्ति काल में भी ज्ञान का उत्पादन साथ ही होता रहता है, दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हुए भी आत्मा में अभेद रहकर भी दोनों अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। उसका प्रमाण है कि क्रोध का अभाव हो जाने पर भी क्रोध को जानने वाला ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता वरन् अपने भिन्न अस्तित्व का प्रकाशन करता रहता है क्योंकि क्रोध का अभाव हो जाने पर भी उस क्रोध की समस्त दशाओं का ज्ञान उस ज्ञान पर्याय में वर्तमानवत् उपस्थित रहता हुआ अनुभव में आता है।

इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान एवं क्रोध दोनों साथ-साथ उत्पन्न होने पर भी दोनों अलग-अलग ही थे, अतः दोनों का कार्य भी भिन्न-भिन्न ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। क्रोध का कार्य क्रोध कषायरूप रहने का था लेकिन ज्ञान का कार्य तो क्रोध से निरपेक्ष रहते हुए, परलक्ष्यी उपयोग में जानते रहने मात्र ही था। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान राग का उत्पादक तो है ही नहीं, वरन् उसके घटने बढ़ने में सहयोग करने वाला अथवा रक्षक भी नहीं है। इतना अवश्य है कि ज्ञायक ध्रुव भाव में उपयोग एकत्व होते ही, क्रोध स्वयं ही भाग जाता है, उत्पन्न ही नहीं होता। जैसे स्थूल रूप से भी विचार करें तो क्रोध की उपस्थिति में अगर मेरा उपयोग क्रोध से हटकर ज्ञान के ऊपर चला जावे, कि मैं तो जानने वाला हूँ, मेरे में तो इस क्रोध की जानकारी हो रही है, तो आप ही विचार करें कि क्रोध ठहरेगा या अभाव होता हुआ अनुभव में आवेगा। इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि ज्ञान का प्रकाश होते ही क्रोधरूपी अंधकार स्वतः ही भाग जाता है, भगाना नहीं पड़ता। इस ही को पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के आस्रव अधिकार के पद नं. २ में निम्नप्रकार कहा है कि —

जेते जगवासी जीव थावर जंगमरूप,
तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं।
महा अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूंछ मोरिकैं॥
आयौ तिहि थानक अचानक परमधाम,
ग्यान नाम सुभट सवायो बल फोरिकैं।
आस्रव पछारयौ रन-थंभ तोरि डार्‌यौ ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिकैं॥ २॥

इसप्रकार सम्पूर्ण चर्चा से स्पष्ट होता है कि ज्ञान, राग का उत्पादक तो है ही नहीं, वरन् उसका नाशक ही कहा जा सकता है। ऐसी श्रद्धा के अभावरूप अज्ञान ही राग का उत्पादक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान राग का उत्पादक कैसे ?

मैं तो मात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा ही हूँ और निरन्तर ज्ञान का ही उत्पादन करता रहता हूँ। मेरे में अनेक ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होने पर भी एवं रागादि का उत्पादन होते हुए भी, मैं तो उन सबसे निरपेक्ष रहते हुये भी, मात्र ज्ञाता ही रहता हूँ। मेरे स्वभाव का अज्ञान ही वास्तव में अज्ञान है।

इसप्रकार के अज्ञान का फल यह होता है कि पर के स्वामित्व की मान्यतापूर्वक, ज्ञेयों के प्रति कर्तापने की एवं भोक्तापने की श्रद्धा बनी रहती है। उक्त श्रद्धा के फलस्वरूप, अज्ञानी उन ज्ञेयों में परिवर्तन करने रूप कर्तृत्व से एवं उनको भोगने रूप भोक्तृत्व से, किन्हीं ज्ञेयों को अनुकूल जानकर राग करने रूप, किन्हीं को प्रतिकूल मानकर द्वेष करने रूप भाव ही करता रहता है। इसप्रकार अज्ञानी का अज्ञान ही रागादि का उत्पादक बना रहता है।

ज्ञानी को इसके विपरीत अपने आपको ज्ञातास्वभावी मानने के कारण, ज्ञेयों के प्रति कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती वरन् ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षावृत्ति, निरपेक्षवृत्ति ही बनी रहती है। फलत: उसको सहज ही रागद्वेष का उत्पादन होना ढ़ीला पड़ जाता है; क्योंकि जब ज्ञानी किसी ज्ञेय को अच्छा बुरा ही नहीं मानेगा तो रागद्वेष उत्पन्न ही कैसे हो सकेगा ?

इसही का समर्थन समयसार कर्ताकर्म अधिकार की गाथा ६९-७० की टीका में निम्नप्रकार किया है —

"जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से, ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्त्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभसासित होते हैं, ऐसे क्रोधादिक वे (उस कर्ता के)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म हैं। इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होने वाली यह (आत्मा की) कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है।"

इसप्रकार स्पष्ट है कि अज्ञान ही रागादि का उत्पादक है और ज्ञान तो ज्ञेयों के प्रति उपेक्षित रहने से रागादि का उत्पादक हो ही नहीं सकता।

सुख अथवा दुःख का उत्पादक ज्ञान नहीं

आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है। ज्ञान के बिना आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी एवं आत्मा के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहेगा। इसप्रकार ज्ञान और आत्मा अभेद है। ज्ञान के व्यापार का नाम उपयोग है, शास्त्र में कहा भी है कि "चैतन्य अनुविधायी परिणामः उपयोगः।" इसप्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव का परिचायक एकमात्र उपयोग है। आत्मा का स्वभाव जानने का है। वह उपयोग वास्तव में तो अपने स्वामी को जानता है, क्योंकि पर्याय का कार्यक्षेत्र स्वयं द्रव्य ही है। इसलिए जानने का कार्य स्वमुखापेक्ष होता है। उपयोग का स्वभाव, स्वसामर्थ्य द्वारा ही स्व-परप्रकाशक है अर्थात् वह स्व एवं पर का ज्ञायक है। ज्ञानगुण ही उस जाननक्रिया का स्वामी है। लेकिन ज्ञानगुण जिसमें निवास करता है। अर्थात् अभेद होकर रहता है; ऐसा वह ज्ञायक स्वभावी आत्मा, उस ज्ञान का भी स्वामी होने से, जाननक्रिया का स्वामी भी, वास्तव में वह आत्मा ही है। इसप्रकार आत्मा ही एक ज्ञायक है बाकी जो कुछ भी जाननक्रिया के जानने में आ रहे हैं वे सब पर ही हैं। ज्ञानी ऐसा ही जानता एवं मानता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानी तो स्व एवं पर के विभागीकरणपूर्वक मात्र एक त्रिकालीज्ञायकभाव को तो स्व के रूप में एवं उसके अतिरिक्त जितना जो कुछ भी जानने में आता हो, सबको पर के रूप में स्वीकारता है। परज्ञेयों के विस्तार को समझें तो स्वआत्मा के अतिरिक्त अन्य छहों द्रव्य तो पर हैं ही, उनमें अपना शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, रुपया, मकान आदि सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपने आत्मा में ही उत्पन्न होने वाले (स्व प्रकाशकज्ञान के अतिरिक्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी प्रकार के विकारी-अविकारी भाव भी, इस जाननक्रिया के लिए परज्ञेय हैं, क्योंकि ज्ञानी को वे सभी परज्ञेय के रूप में प्रतिभासित होते हैं।

इसप्रकार वास्तव में ज्ञान का, ज्ञेय मात्र के साथ सहज स्वाभाविक ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहा गया है। वह ज्ञान तटस्थ रहकर मात्र जानता ही रहता है, किसी के साथ कोई प्रकार का सम्बन्ध नहीं जोड़ता। यही कारण है कि उसकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहती है।

प्रवचनसार की गाथा ४२ में भी कहा है कि — "निर्विकार सहज आनन्द में लीन रहकर सहजरूप से जानते रहना वही ज्ञान का स्वरूप है ज्ञेयपदार्थों में रुकना, उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।" इसप्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान की जानने की क्रिया में कोई ज्ञेयकृत अशुद्धता प्रवेश नहीं कर सकती। लेकिन जब वही जाननक्रिया किसी के साथ सम्बन्ध जोड़ेगी आत्मा की पर्याय में तो अपवित्रता आये बिना रह नहीं सकती। वह सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है; एक तो ज्ञेयों को अपना मानने रूप, उससे जो मिथ्यात्व की अपवित्रता होती है और दूसरा पर मानते हुये भी सम्बन्ध जोड़ना, उससे चारित्र मोह सम्बन्धी अपवित्रता उत्पन्न होती है। अतः सिद्ध है कि ज्ञेयों से निरपेक्ष (तटस्थ) रहकर वर्तना ही ज्ञान का स्वरूप है, किसी से अच्छे अथवा बुरे के रूप में सम्बन्ध जोड़ना ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है। सम्बन्ध करते ही अपवित्रता का उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है।

ज्ञान का उपरोक्त स्वभाव होने पर भी क्षयोपशम ज्ञान की जाननक्रिया ऐसी कमजोर है कि ज्ञेय, स्व एवं पर दोनों एक साथ उपस्थित होने पर भी दोनों को एक साथ जान नहीं सकती। जब स्व को जानती है तब पर को जानना रह जाता है और जब पर को जानती है तब स्व को जानना रह जाता है। ऐसी स्थिति होने पर आत्मा दोनों में से किसको जाने, यह उसकी रुचि पर निर्भर करता है। आत्मा को जब स्व की रुचि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है तो ज्ञानपर्याय स्वसन्मुख होती हुई स्व में एकाग्र होती है और जब पर में रुचि होती है तो वही ज्ञान पर्याय परसन्मुख होती हुई उसमें एकाग्र होती है। यह ज्ञान पर्याय का स्वभाव है और स्वभाव तो अपरिवर्तनीय होता है।

प्रश्न – ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का है, वह स्व को जाने अथवा पर को, लेकिन मात्र जानेगा ही; उससे सुख अथवा दुःख का उत्पादन कैसे हो सकता है?

उत्तर – जाननक्रिया का कार्य सुख अथवा दुःख उत्पादन करने का है ही नहीं, लेकिन जब वह स्व को जानती है तब स्व में द्वैत का अभाव होने से निराकुल सुख होता है और जब वही जाननक्रिया पर में एकाग्र होती है तो वहाँ ज्ञेय अनेक होने से, ज्ञेय परिवर्तन के कारण आकुलता होती है। आत्मा में ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य भी गुण अनेक हैं, जैसे श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य, कर्ता, भोक्ता इत्यादि । उन सबका कार्य अर्थात् परिणमन भी, ज्ञान के परिणमन के साथ निरन्तर चलता ही रहता है। उनके कार्यों को प्रसिद्धि करने वाली भी तो एक जाननक्रिया ही है। लेकिन स्वभाव से अनभिज्ञ अज्ञानी को ऐसा दिखने लगता है कि उन गुणों के कार्य भी जाननक्रिया के ही कार्य हैं। जबकि वास्तव में उन कार्यों के उत्पादक तो अलग-अलग गुण ही हैं, ज्ञान नहीं। इसप्रकार की सहज स्वाभाविक स्थिति है अर्थात् ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का कार्य तो मात्र जानने का ही है, सुख अथवा दुःख का उत्पादक ज्ञान नहीं है वरन् सुख गुण ही हैं। ज्ञान तो सुख दुःख आदि से भी तटस्थ रहकर उनको भी मात्र जानता ही रहता है। न तो वह उन सुख दुःख आदि का कर्ता है और न वेदक अर्थात् भोक्ता भी है।

स्व को जानने में सुख एवं पर को जानने में दुःख क्यों?

प्रश्न – स्व को जानने के साथ सुख और पर को जानने के साथ दुःख का उत्पादन क्यों होता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान – हमको यह भी समझना होगा कि आत्मा की जाननक्रिया के साथ ही अन्य गुणों के कार्य, किसप्रकार होते रहते हैं। आत्मा के अनन्त गुणों में महत्वपूर्ण कार्य तो श्रुद्धागुण का है। ज्ञान का कार्य तो स्व को स्व के रूप में प्रकाशित कर देना है और पर के कार्य को पर के रूप में बता देना है। श्रद्धागुण ने जिसको भी अपने रूप में स्वीकार कर लिया तब ज्ञान का उपयोग भी उसकी ओर ही सन्मुखता करने लगना। चारित्रगुण का कार्य है लीन होना, अत: श्रद्धा ने जिसको स्व के रूप में स्वीकारा तब चारित्र भी उस ही में तन्मय होने की चेष्टा करने लगता है। सुखगुण का कार्य है, निराकुलतारूप विभुत्व शक्ति का कार्य है अपने आप में व्यापना, कर्तागुण का कार्य है उपरोक्त समस्त गुणों के कार्यों को सम्पन्न करना, भोक्ता गुण का कार्य है उपरोक्त समस्त कार्यों के फल को भोगना अर्थात् वेदन करना, अनुभव करना इत्यादि। इन समस्त गुणों के समन्वित कार्यों का परिचय देने वाला आत्मा का उपयोग है। इसप्रकार अपने आत्मतत्त्व में ही अपनापन स्थापन कर लेने पर आत्मा का उपयोग पुरुषार्थपूर्वक स्व में तन्मय होता है, विभुत्वगुण द्वारा अपने आप में व्यापता है और सफल हो जाता है एवं ज्ञेय परिवर्तन का अभाव होने से आकुलता के कारणों का ही अभाव हो जाता है; अत: अतीव अनाकुल आनन्दरूप सुख प्रगट हो जाता है। उपरोक्त सभी कार्य सहजरूप से निरन्तर होने लगते हैं। उपरोक्त सभी का समन्वित कार्य उपयोग के माध्यम से प्रकाशित (अनुभव) होता रहता है। इसप्रकार स्व में स्वपने की श्रद्धा के साथ आत्मा के सब ही गुण आत्मसन्मुख होकर कार्यशील हो जाते हैं और सभी के कार्यों को ज्ञान जानता है। स्व को जानने वाली ज्ञान की पर्याय निजानन्दरूपी परमशान्ति (सुख) आत्मा को प्रदान करती है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि स्व को जानने में ज्ञान प्रयुक्त होने पर सुख की अनुभूति प्रगट होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न – इसके विपरीत ज्ञान उपयोग के पर के जानने में युक्त होने पर दुःख का उत्पादन क्यों होता है ?

समाधान – इसका कारण यह है कि ज्ञान आत्मा का है और ज्ञान का स्वभाव जानना है, लेकिन वहाँ स्व के अतिरिक्त परसम्बन्धी ज्ञेयाकारों की भी उपस्थिति रहती है। लेकिन जाननक्रिया अपने स्वामी को छोड़ कर, परसंबंधी ज्ञेयाकारों के जानने के लिए परसन्मुखवृत्ति कर लेती है।

अज्ञानी आत्मा ने अनादि काल से अपने स्वरूप को तो कभी जाना नहीं तथा पहिचाना भी नहीं, मात्र पर का ही परिचय किया है। श्रद्धा की विपरीतता के कारण, पर को पर के रूप में नहीं जानकर स्व के रूप में जानता चला आ रहा है। श्रद्धा ने भी पर को ही स्व के रूप में स्वीकार कर रखा है अतः अज्ञानी निःशंक होकर पर को ही स्व के रूप में मानता चला आ रहा है। फलस्वरूप आत्मा के अन्य गुण भी विपरीत परिणमन करते रहते हैं।

अरहंत भगवान सुखी कैसे हैं?

अरहंत भगवान का ज्ञान तो क्षायिक हो गया। जो कुछ भी स्व है, वह सम्पूर्ण एवं पर जितना जो कुछ भी है वह सम्पूर्ण (लोकालोक) भूत भावी पर्यायों सहित अर्थात् समस्त स्व एवं पर एक ही समय में उनको प्रत्यक्ष प्रतिभासित हो गये। ऐसे ज्ञान को ही क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान, परिपूर्णज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इस ज्ञान में इन्द्रियों की पराधीनता का अभाव होकर ज्ञान का कार्य सीधा ज्ञान से ही होता है, अतः यह ज्ञान स्वतंत्रतापूर्वक जानने का कार्य करता रहता है। अरहंत भगवान की आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख आदि अनन्तगुण पूर्णता को प्राप्त होकर निर्विकारी हो जाते हैं एवं सामर्थ्य की सम्पूर्ण प्रगटता, पर्याय में हो जाती है। अरहंत के श्रद्धा गुण ने अपने ज्ञायकतत्त्व में अपनापन स्थापन कर लिया, ज्ञान भी स्व को ही स्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में जानता रहता है और चारित्र भी अपने आप में ही परिपूर्ण लीनता स्थिरता करता है फलत: आत्मा के अन्य गुण भी आत्मा में ही तन्मयता करते रहते हैं। अरहंत भगवान स्व-पर को एकसाथ जानते हुए भी अपने आनन्द की अनुभूति का ही निरन्तर स्वाद लेते रहते हैं। पण्डित दौलतरामजी ने भी कहा है कि — **"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन"** इसीप्रकार पण्डित भागचन्दजी ने भी एक पद में कहा है कि —

"अप्रमेय ज्ञेयनि के ज्ञायक, नहिं परिणमति तदपि ज्ञेयनि में।
देखत नयन अनेक रूप जिम, मिलत नहीं पुनि निज विषयनि में।।
निज उपयोग आपने स्वामी, गाल दियो निश्चल आपुनि में।
है असमर्थ बाह्य निकसनिकों, लवण धुला जैसे जीवन में।।"

इसप्रकार अरहंत भगवान को अपने ज्ञायक स्वतत्त्व में अपनापन होने से पूर्ण सुखी हैं उनका उपयोग अपने आप में ही तन्मय होकर वर्तता है और पर को जानते हुए भी पर के साथ किंचित मात्र भी कोई प्रकार का संबंध नहीं जोड़ते।

प्रवचनसार गाथा ६० के भावार्थ में भी कहा है कि —

"केवलज्ञान समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को (समस्त पदार्थों के त्रैकालिक ज्ञेयाकार समूह को) सर्वदा अडोलरूप से जानता हुआ अत्यन्त निष्कंप-स्थिर-अक्षुब्ध-अनाकुल है; और अनाकुल होने से सुखी है — सुख स्वरूप है, क्योंकि अनाकुलता सुख का ही लक्षण है। इसप्रकार केवलज्ञान और अक्षुब्धता-अनाकुलता भिन्न नहीं होने से केवलज्ञान और सुख भिन्न नहीं हैं।"

इसीप्रकार गाथा १३ में भी कहा है कि — "शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का (केवली और सिद्धों का) सुख, अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत (अतीन्द्रिय) अनुपम, अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसप्रकार केवली भगवान का ज्ञान (लोकालोक को जानते हुए भी) स्व को तन्मयतापूर्वक जानता है और पर को अतन्मयतापूर्वक जानता है। तथा ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव होने से वे परम अनाकुल आनन्द का अनुभव, सादि अनन्तकाल तक करते रहते हैं। नियमसार की गाथा १६६ के साथ श्लोक २८२ के अर्थ के टिप्पणी के अंत में स्पष्ट किया है कि—

"केवली भगवान जिसप्रकार स्व को तद्रूप होकर निजसुख के संवेदन सहित जानते देखते हैं; उसीप्रकार लोकालोक को (पर को) तद्रूप होकर परसुख दुःखादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते, परन्तु पर से बिल्कुल भिन्न रहकर, पर के सुख दुःखादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं, इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है।"

उपरोक्त समस्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अगर हमारा ज्ञान भी अरहंत के समान, पर से निःस्पृह (निरपेक्ष) होकर, स्व में अपनेपन की श्रद्धापूर्वक और अपने में एकाग्र होकर परिणमन करे तो हमारा भी आत्मा, परमशान्ति का अनुभव करता हुआ पूर्णदशा (अरहंत दशा) को प्राप्त कर सकता है।

चर्चा का सारांश

द्रव्यों की भीड़भाड़ में खोई हुई निज आत्मा को पहिचानकर कैसे भिन्न करना यह भी समझा। तदनन्तर निज आत्मतत्त्व भी नवतत्त्वों के बीच में इसप्रकार छुपा हुआ है कि जब भी पहिचानने की चेष्टा की जावे, दिखाई ही नहीं देता, मात्र पर्यायगत नवतत्त्वरूप ही दीखते हैं। अतः नवतत्त्वों में जीवतत्त्व को, अन्य सबसे भिन्न समझने के लिए जीवतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझा एवं अन्य पदार्थों के स्वरूप को जीवतत्त्व से भिन्न समझने के लिए समझा। अपना स्वरूप समझ लेने पर भी उसमें अहंपना (अपनापन) स्थापित करने के लिए, भेदज्ञान की पद्धति पर भी संक्षेप में चर्चा की। स्व में ऐसा क्या आकर्षण है कि उस ही रूप अपने को माना जावे? ऐसी शंका को निर्मूल करने के लिए एवं स्व में अहंपना स्थापन करने के लिए, आत्मा के ज्ञानस्वभाव की एवं सुखस्वभाव की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी चर्चा की, साथ-साथ अरहंत भगवान के ज्ञानस्वभाव एवं सुखस्वभाव की भी चर्चा करके, ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराने की चेष्टा की गई कि मेरा स्वभाव भी अरहंत जैसा ही है। अरहंत भगवान में जो कुछ भी है, वही मेरे द्रव्य (ध्रुव) में है एवं जो अरहंत भगवान कर रहे हैं, मेरा भी स्वभाव मात्र वही कर सकने का है, इत्यादि के द्वारा अपने स्वभाव की महिमा प्रकट करने एवं कर्तृत्वबुद्धि का अभाव कराने की चेष्टा की गई। अपना आत्मा सब से भिन्न होने पर भी तथा किसी के साथ एकमेक नहीं होने पर भी, अज्ञानी को उसमें विकार उत्पन्न क्यों हो जाता है? इस समस्या के समाधान हेतु, आत्मा के ज्ञान का स्वभाव एवं उसकी जानने की प्रक्रिया किसप्रकार होती है यह भी समझा। आत्मा का परपदार्थों के साथ किसप्रकार का सम्बन्ध है और कैसा सम्बन्ध होता है, इन सब विषयों पर भी विस्तार से चर्चा की। प्रवचनसार गाथा १५५ की टीका में कहा है कि "वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है।" अत: आत्मा के उपयोग विशेष का स्वरूप समझने के लिए आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वभाव एवं उसकी जाननक्रिया का स्वभाव भी समझा। आत्मा की जाननक्रिया से सभी ज्ञेय भिन्न हैं उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी भिन्न हैं, आत्मा अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर ज्ञेय के पास जाता नहीं तथा वे ज्ञेय भी अपना स्वचतुष्टय छोड़कर आत्मा के पास आते नहीं, फिर भी आत्मा उन ज्ञेयों को कैसे जान लेता है? इस विषय पर भी हमने चर्चा करके यह समझा कि आत्मा के ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक होने से उसी ज्ञान पर्याय में परसंबंधी ज्ञेयाकार विद्यमान होने से वे भी ज्ञात होते हैं इसकारण इस ज्ञान को स्व को जानते समय, परसंबंधी ज्ञेयाकारों का ज्ञान भी सहज ही हुए बिना रहता नहीं और वे परसंबंधी ज्ञेयाकार भी ज्ञेयों से नहीं बनते वरन् उस ज्ञान पर्याय की तत्समय की योग्यता ही प्रकाशित होती है। ज्ञान की योग्यता जिस ज्ञेय को जानने की होती है मात्र उस समय उस ही ज्ञेय संबंधी ज्ञेयाकार बनते हैं और आत्मा ने मात्र उन ज्ञेयाकारों को ही जाना है। यही कारण है कि ज्ञान को पर का ज्ञान करने के लिए न तो अपना स्वक्षेत्र छोड़कर पर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास जाना पड़ता है और न परसन्मुख ही होना पड़ता है। इसीप्रकार ज्ञेय को भी अपना स्वक्षेत्र छोड़कर आत्मा के पास आने की अथवा आत्म-सन्मुख होने की आवश्यकता नहीं रहती। इसप्रकार सभी द्रव्य (ज्ञेय) स्वतंत्रता से अपने-अपने में अबाधगति से परिणमन करते रहते हैं और आत्मा का ज्ञान भी, परज्ञेयों के परिणमन को किंचित्‌मात्र भी अस्त-व्यस्त करे बिना स्पर्श किए बिना ज्ञेय निरपेक्ष रहते हुए अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वभाव से जानता रहता है। जैनधर्म के वस्तुस्वातंत्र्य का यही साक्षात् प्रमाण है। इसप्रकार ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान उससे निरपेक्ष रहता है, विकृत ज्ञेय को जानने पर भी विकारी नहीं हो जाता। केवली भगवान का ज्ञान, लोकालोक के ज्ञेयों को जानते हुए भी उन ज्ञेयों से निरपेक्ष रहता है। निरपेक्ष परिणमन का यह साक्षात् प्रमाण हैं।

इसप्रकार ज्ञान स्वभाव को समझने से, ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव भी उपर्युक्त प्रकार का ही है अतः मेरे को भी ज्ञेयनिरपेक्ष ही वर्तना चाहिए उस ही से शान्ति अर्थात् निराकुलता संभव है।

ज्ञान का ज्ञेयनिरपेक्ष वर्तना स्वभाव होने पर भी, राग-द्वेषादि का उत्पादन कैसे हो जाता है? इस विषय की भी चर्चा की; यह तो स्पष्ट है कि पर निरपेक्ष ज्ञान राग का उत्पादक हो ही नहीं सकता, फिर भी राग आत्मा में विद्यमान तो है, अतः इसका उत्पादक कौन है? इस विषय को भी उपर्युक्त चर्चा से समझा। रागादि का उत्पादक तो आत्मा के यथार्थ स्वभाव की अजानकारी एवं पर में अपनापन रूपी अज्ञान है। समयसार की गाथा ३७१ की टीका के आधार से भी यह स्पष्ट है कि रागादि का उत्पादक तो अज्ञान है, आत्मा अथवा आत्मा का ज्ञान नहीं। लेकिन जब यह अज्ञानी आत्मा ज्ञेयों के ज्ञान के समय उनसे अपनेपन के संबंध के साथ किसी को अच्छा मानकर और किसी को बुरा मानकर संबंध जोड़ लेता है यह ही राग द्वेष का उत्पादन हैं अतः सिद्ध है कि अगर यह आत्मा ज्ञेयों को जानते समय किसी के साथ अपनेपन का संबंध नहीं जोड़े तो, राग द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं हो। अगर रागादि की उत्पत्ति ही नहीं हो तो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा निराकुल आनन्द का ही निरन्तर भोक्ता बना रह सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान अरहंत का आत्मा है। अतः सिद्ध है कि ज्ञान तो रागादि का उत्पादक है ही नहीं, वरन् अपने ही स्वभाव की अश्रद्धा एवं अज्ञान, पर के साथ संबंध जोड़ने में कारण बनता है। फलतः अज्ञानी आत्मा रागादि एवं आकुलता को भोगता हुआ अनन्तकाल तक दुःखी होता रहता है। निष्कर्ष यह है कि अपनेपन की श्रद्धा का अभाव एवं अज्ञान ही समस्त संसार का मूल है। इसलिए आत्मा को उपरोक्त अश्रद्धा एवं अज्ञान का अभाव करने का उपाय ही करने योग्य है।

ज्ञातृतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा ही अज्ञान के अभाव का मुख्य उपाय है

प्रवचनसार की गाथा २४२ की टीका में निम्नप्रकार आया है कि "ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शनपर्याय है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार अनुभूति (ज्ञान) जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है। ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्त्व में परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्रपर्याय है।"

इसीप्रकार ग्रन्थ के ज्ञान अधिकार का समापन करते हुए एवं ज्ञेय अधिकार प्रारम्भ करने के पूर्व श्लोक ६ की टीका में निम्नप्रकार कहा है कि —

"आत्मारूपी अधिकरण में रहने वाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहने वाले ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके उसकी सिद्धि के लिए (केवलज्ञान प्रगट करने के लिए) प्रशम के लक्ष्य से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) ज्ञेयतत्त्व को जानने का इच्छुक (जीव) सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किंचित्मात्र भी उत्पत्ति न हो।"

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

इसप्रकार उपरोक्त आगम के आधार से यह निश्चित होता है कि ज्ञानतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व दोनों के स्वरूपों को यथार्थ समझकर उनकी तथातथ्य (जैसे हैं वैसी) प्रतीति करना ही अज्ञान को दूर करने का एकमात्र उपाय है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि पूर्ण मनोयोग एवं रुचिपूर्वक उपरोक्त दोनों के स्वरूपों को जैसे भी संभव हो समझकर अपने अज्ञान का अभाव करें।

सर्वप्रथम हमको ज्ञानतत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर उसकी श्रद्धा उत्पन्न करना है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि जिस ज्ञानतत्त्व से ज्ञेय तत्त्वों को भिन्न समझना है, उस ज्ञानतत्त्व का स्वरूप ही जब तक स्पष्टत: जानने एवं प्रतीति में नहीं आवेगा तब तक ज्ञेयों से ज्ञान को भिन्न समझना एवं मानना असंभव है इसलिए ज्ञानतत्त्व का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट समझना चाहिये।

ज्ञानतत्त्व के स्वरूप के संबंध में तो हम ऊपर के प्रकरणों में विस्तार से चर्चा करते आ रहे हैं। उस ही सन्दर्भ में और भी विचार करते हैं।

ज्ञानतत्त्व तो अरहंत के समान

ज्ञानतत्त्व भगवान अरहंत का आत्मा है। द्रव्य से देखो तो, गुणों से देखो तो और पर्याय से देखो तो, एक ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड ही है। भगवान अरहंत के ज्ञानतत्त्व की विशेषता यह है कि उसके ज्ञान में स्व के साथ समस्त लोकालोक ज्ञेय के रूप में प्रतिभासित होते हुए भी, परम निराकुलतारूपी आनन्द का रसास्वादन करता हुआ तृप्त बना रहता है।

पण्डित भागचन्दजी ने कहा भी है —

अप्रमेय ज्ञेयनि के ज्ञायक नहिं परिणमति तदपि ज्ञेयनि में।
देखत नयन अनेक रूप जिमि, मिलत नहीं पुनि निज विषयनि में॥
निज उपयोग आपने स्वामी गाल दियो निश्चल आपुनि में।
है असमर्थ बाह्य निकसनि कौं लवण घुला जैसे जीवन में॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त ज्ञानतत्त्व ही वास्तविक ज्ञानतत्त्व है और वही उसका स्वरूप है मेरा ज्ञानतत्त्व (ध्रुवतत्त्व) भी वैसा ही है और वही मेरा स्वरूप भी है।

भगवान अरहंत में और मेरे में, अन्तर तो मात्र इतना ही है कि उनका उपयोग किसी भी ज्ञेय से सम्बन्ध नहीं जोड़ता। ज्ञानतत्त्व तो मेरा भी उनके समान ही है, उनके ज्ञानतत्त्व में और मेरे में किंचितमात्र भी अन्तर नहीं है। लेकिन मेरा उपयोग अपने आप में ही सिमटकर रहना चाहिए था वह ज्ञेयों के सन्मुख होकर सम्बन्ध जोड़ लेता है तथा अपने ज्ञानतत्त्व में संतोषवृत्ति के बजाय ज्ञेयों के साथ मित्रता कर लेता हे। फलतः इच्छित ज्ञेयों को रखने एवं अनिच्छित ज्ञेयों को हटाने के निष्फल प्रयत्नों में संलग्न होकर आकुलित आकुलित बना रहता है।

प्रश्न — इस अन्तर को दूर करने का उपाय क्या है?

उत्तर — अन्तर का अभाव तो हो सकता है, हुंआ भी है और जो यथार्थमार्ग अपनाएगा वह अवश्य दूर कर भी सकेगा। वर्तमान में जो अरहंत हैं वे भी भूतकाल में तो हमारे जैसे ही थे, उनने भी इस अन्तर का अभाव करके ही तो अरहंतपना प्राप्त किया है।

उक्त अन्तर को दूर करने का उपाय भी अत्यन्त सरल है। सरल होते हुए भी, अज्ञानी ने अपनी उल्टी मान्यता के कारण उस उपाय को कठिन बना रखा है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि हर एक द्रव्य की पर्यायों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो सबका अपना-अपना द्रव्य ही है। द्रव्य पर्याय से और पर्याय द्रव्य से कभी अलग नहीं हो सकते, अतः इस आत्मा की ज्ञानपर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल सब, अपना आत्मा ही तो होता है। यद्यपि आत्मा का ज्ञान स्व-परप्रकाशी है और आत्मा के ज्ञान में स्व एवं पर दोनों ही एक साथ प्रतिभासित भी होते हैं और ज्ञानपर्याय तो आत्मद्रव्य की ही है, पर की तो है नहीं। पर्याय का कार्य तो अपने स्वामी को जानना है, परसंबंधी ज्ञेयाकार ज्ञान में होते हुए भी उनमें अटकने का स्वभाव तो ज्ञान का है नहीं। अपने स्वामी को जानने में तो सहज रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से वह पर्याय अपने स्वामी के साथ एकत्व को प्राप्त हो जाती है लेकिन परज्ञेयों में परपना होने से अतन्मयतापूर्वक उनका भी जानना होता रहता है; अत: उनके प्रति सहज ही उदासीनता-मध्यस्थता वर्तती रहती है। ऐसा ज्ञानतत्त्व का सहज स्वाभाविक परिणमन है, वैसा ही मेरा भी वह बने रहना चाहिए।

विकारी पर्यायों से भिन्नता करने का उपाय

प्रश्न — आत्मा की स्वयं की पर्याय में उत्पन्न होने वाली पर्यायों संबंधी ज्ञेयाकारों का ज्ञान आत्मा को होता है उनसे आत्मा अलग नहीं हो सकता। वे तो आत्मा के स्व क्षेत्र में ही उत्पन्न एवं विद्यमान होते हैं; अत: उनसे भिन्नता कैसे समझी जावे?

उत्तर — यह बात सत्य है कि आत्मा में उत्पन्न होने वाले विकारी भावों के द्रव्य, क्षेत्र, काल तीनों तो एक ही हैं लेकिन भावों में भिन्नता अवश्य है। आत्मा को वेदन तो मात्र भावों का ही होता है द्रव्य, क्षेत्र, काल का नहीं होता। दु:ख का वेदन भी भाव है और उसका अभाव रूप सुख का वेदन भी भाव है। आत्मा का प्रयोजन तो सुखरूपी भाव प्राप्त करने का ही है। इसलिए भाव विपरीतता होने से, पर्यायगतभाव मेरे स्व कैसे हो सकते हैं? मेरे स्वभाव से मेल खाने वाला ही मेरा स्व हो सकता है। लेकिन मैं तो नित्य, अविनाशी, ध्रुवस्वरूप हूँ और पर्याय तो इससे विपरीत अनित्य, क्षण-क्षण में नाशवान, उत्पाद-व्यय स्वभावी है। इतना ही नहीं विकारी पर्याय तो मेरे स्वभाव से विपरीत स्वादवाली भी है। अत: दोनों में जबर्दस्त भाव विपरीतता होने से ऐसी पर्याय मेरा स्व नहीं हो सकती। इन्हीं कारणों से मैं तो पर्यायों को स्व के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, इतना ही नहीं, उनके साथ मेरा संबंध तो परद्रव्य के जैसा ही परपने का संबंध है। वे मेरे लिए परद्रव्य के समान पर ज्ञेय हैं। इस अपेक्षा दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंभीरता से विचार करें तो मेरे आत्मा के ज्ञान में जिसप्रकार परद्रव्य ज्ञेय बनते हैं, उसही प्रकार मेरी पर्याय भी ज्ञेय बनती है। जानने की प्रक्रिया में अन्तर नहीं पड़ता है? ज्ञान की पर्याय जब भी परलक्ष्यपूर्वक परिणमती है तब जिसप्रकार परद्रव्यों संबंधी ज्ञेयाकारों को परज्ञेय के रूप में जानती है, उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय जब स्वलक्ष्यपूर्वक परिणमती है तब स्वज्ञेय (ध्रुव भाव) के ज्ञेयाकार को स्वज्ञेय के रूप में जानती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की ज्ञान पर्याय को, परद्रव्य अथवा स्वद्रव्य अथवा स्वयं की पर्याय, ज्ञेयरूप से ज्ञात होने में, कोई अन्तर नहीं है। जानने की प्रक्रिया तो दोनों के लिए समान ही है।

प्रश्न — परद्रव्य संबंधी ज्ञेयाकारों में तन्मय होने की चेष्टा में असफल होने से आकुलता होती है यह तो ठीक है, लेकिन अपने ही द्रव्य के परिणामों (पर्यायों) के ज्ञान के समय भी आकुलता क्यों उत्पन्न होती है।

उत्तर — ज्ञान पर्याय जब भी ज्ञेयाकारों को एकत्वपूर्वक (अपनेपन पूर्वक) ज्ञेय बनाती है तो वह जो उस रूप ही अपने आपको मानने लगती है अर्थात् क्रोध के ज्ञान के समय, अज्ञानी अपने को क्रोधी मान लेता है। क्रोध के साथ आकुलता होने से, अपने को आकुलित मानने लगता है। ज्ञानी आत्मा उस ही क्रोध के ज्ञान के समय, स्व के साथ एकत्वपूर्वक वर्तने के कारण, क्रोध से भिन्न अपने को ज्ञायक मानता है। ज्ञानी को स्वभाव के साथ एकत्व वर्तते हुए भी जब उसमें एकाग्र होता है; उससमय अज्ञानी के समान क्रोध का ज्ञान भी उसे आकुलित नहीं कर सकता। अज्ञानी को ज्ञानतत्त्व की श्रद्धा, ज्ञान नहीं वर्तने से वह क्रोध के ज्ञान के समय अपने को क्रोधी मान लेता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा को जिसप्रकार परद्रव्य संबंधी ज्ञेयाकार पर है, परद्रव्य है; उसीप्रकार स्वयं की क्रोधादि पर्याय संबंधी ज्ञेयाकार भी अपने से भिन्न पर ही हैं, कोई अन्तर नहीं है। इसही विषय को समयसार ग्रन्थ की गाथा ३६ के भावार्थ में निम्नप्रकार स्पष्ट किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"यह मोहकर्म जड़ पुद्‌गल द्रव्य हैं: उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है: यह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्‌गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है।"

इसही का समर्थन समयसार गाथा ३४४ की टीका के अन्तिम चरण में इसप्रकार मिलता है —

"इसलिए ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता है। (अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन है उसको करता है।)"

समयसार गाथा २४१ की टीका के अन्त में भी इस ही सिद्धान्त को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है —

"इसलिए न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादि का करना) बन्ध का कारण है।"

उपरोक्त समस्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि अज्ञानी का उपयोग क्रोध पर्याय के ज्ञान के समय पर में एकत्व होने से अपने को क्रोधी ही अनुभव करता है। ज्ञानी इससे विपरीत अपने ज्ञायक से एकत्वपूर्वक ज्ञान करने से पर्याय में स्थित क्रोध का ज्ञान होते हुए भी वह अपने को ज्ञाता बनाये रखता है। अज्ञानी को अनादि काल से पर के साथ मित्रता प्रेम होने से वह अपने स्वामी को छोड़कर परसंबंधी ज्ञेयाकारों को जानने में व्यस्त हो जाता है। यही अज्ञान की लीला है।

दुःख की उत्पत्ति कैसे?

प्रश्न — जब ज्ञान पर्याय का कार्य ही स्व-पर को जानना है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने स्वामी को छोड़कर परसंबंधी ज्ञेयाकारों को ही जानने को उद्यत क्यों होती है?

उत्तर -- अनादिकाल से अज्ञानी जीव को उपरोक्त ज्ञानस्वभावी आत्मा की एवं उसकी ज्ञानक्रिया की, स्वाभाविक स्थिति का ज्ञान श्रद्धान यथार्थ नहीं है। इसके अभाव में ज्ञानतत्त्व में संतोषवृत्ति कैसे हो सकती है?

प्राणी मात्र को सुख चाहिये, सुख की तीव्र पिपासा होने से उसे प्राप्त करने की खोज में भटकना भी स्वाभाविक है। सुख एवं अपने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान श्रद्धान के अभाव में, उपायों का भी ज्ञान श्रद्धान यथार्थ कैसे हो सकेगा? अपना सुख तो अपने में ही है, उसमें से ही आवेगा; आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, सुख का खजाना है; ऐसा विश्वास जागृत होते ही ज्ञानतत्त्व में संतोषवृत्ति उत्पन्न हो सकेगी। फलतः ज्ञान पर्याय अपने स्वामी को छोड़कर, परसन्मुखता का प्रयास भी क्यों करेगी? और जब परसन्मुखवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होगी तब सुख प्राप्त करने की खोज में परज्ञेयाकारों में भटकना स्वतः ही समाप्त होकर आकुलता उत्पन्न होने का अवसर ही समाप्त हो जावेगा। ऐसी स्थिति में अपने आपमें तृप्त रहते हुए आत्मा अनाकुलित आनन्द का उपभोक्ता बना रहेगा।

निष्कर्ष यह है कि उपरोक्त ज्ञानतत्त्व का एवं उसकी कार्यप्रणाली का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान नहीं होने से, अज्ञानीजीव अपने ज्ञानतत्त्व को छोडकर, परसंबंधी ज्ञेयाकारों में से सुख प्राप्त करने के लिए भटकता फिरता है, उनमें सुख है ही नहीं तो वह प्राप्त भी कैसे होता? फलतः निरन्तर आकुलता को ही प्राप्त करता हुआ दुःखी ही बना रहता है। यह हीं अनादिकाल से दुःखी रहते हुए परिभ्रमण करते रहने की कहानी है।

तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी को सर्वप्रथम अपने ज्ञानतत्त्व का एवं उसकी कार्यप्रणाली का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके, इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि मेरा सुख मेरे में ही है, वह अन्य कहीं से भी प्राप्त होने वाला नहीं है। परसंबंधी ज्ञेयाकार तो प्रतिभासित हुए बिना रहेंगे नहीं, लेकिन उनसे किंचितमात्र भी मित्रता की जावेगी, अपनापन माना जावेगा तो मुझे अपने ज्ञानतत्त्व का विरह होना स्वाभाविक है; फलतः अनाकुलित सुख का भी विरह हो जावेगा। इसप्रकार परसंबंधी ज्ञेयाकारों की मित्रता मात्र ही मेरे को अत्यन्त हानि पहुँचाने वाली है। आत्मस्वभाव से अनभिज्ञ प्राणी आकुलता की कमी को अपनी मिथ्या कल्पना से सुख मानकर संतोष कर लेता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव को भूलकर पर में से सुख प्राप्त करने के लिए असफल झपट्टे मार-मारकर निरन्तर दुःख का वेदन करता रहता है।

इसलिए ज्ञानतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को एवं उसकी कार्यप्रणाली को पूर्ण निष्ठा के साथ समझकर, अपने में ही अपना सुख है ऐसी दृढ़तम श्रद्धा के बल से, पर के प्रति अपनापन छोड़कर, अत्यन्त मध्यस्थ रहते हुए, अपनी ज्ञान पर्याय को अपने ज्ञानतत्त्व में ही समेटकर, उससे बाहर निकलने का अवकाश ही नहीं देना ही एकमात्र आत्मशान्ति का उपाय है। इसको ही जिनवाणी में शुद्धोपयोग कहा हे। इसही में परम निराकुल शान्ति है।

प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार के अन्त में श्लोक ५ में निम्नप्रकार बताया है —

"इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के प्रसार से सरस (अर्थात् जो शाश्वत आनन्द के प्रसार से रसयुक्त) मेरे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान, ज्योतिर्मय और सहज रूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की भांति निष्कंप-प्रकाशमय शोभा को पाता है। (अर्थात् रत्नदीप की भाँति स्वभाव से ही निष्कंपतया अत्यन्त प्रकाशित होता-जानता रहता है।)"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा १५९ की टीका से भी उक्त कथन का समर्थन प्राप्त होता है।

"जो यह (१५६वीं गाथा में) परद्रव्य के संयोग के कारण रूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मंद-तीव्र उदय दशा में रहने वाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं। इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ और इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ ऐसा जो अशुद्धयोपयोग उससे मुक्त होकर मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसा होता हुआ, उपयोगात्मक द्वारा (उपयोग रूप निजस्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के विनाश का अभ्यास है।"

इसप्रकार यह निश्चित होता है कि ज्ञानतत्त्व की यथातथ्य प्रतीति करना ही ज्ञेयतत्त्वों के प्रति मित्रता का अभाव करने का एकमात्र उपाय है।

ज्ञेयस्वभाव

ज्ञेय तो पर हैं, उनकी यथार्थ प्रतीति क्यों?

ज्ञायक (ज्ञानतत्त्व) की यथातथ्य प्रतीतिपूर्वक, ज्ञेय मात्र मेरे से भिन्न पर हैं ऐसी प्रतीति ही मोक्षमार्ग प्राप्त करने का प्रथम सोपान है।

ज्ञेयों की स्थिति का यथार्थज्ञान करे बिना वे यथार्थत: मेरे से भिन्न एवं पर हैं; ऐसी प्रतीति कैसे उत्पन्न हो सकेगी? अनादिकाल से जिनको मैंने स्व के रूप में स्वीकार कर रखा है, उनको पर के रूप में मानना अत्यन्त कठिन कार्य है। अत: ज्ञेय तत्त्वों के स्वरूप को जब तक गंभीरता से मनोयोगपूर्वक नहीं समझा जावेगा, तब तक वे मेरे से भिन्न हैं-पर हैं, ऐसी प्रतीति जागृत नहीं हो सकेगी। उनमें परपने की श्रद्धा जागृत हुए बिना, अनादिकाल से चला आ रहा अपनापन कभी छूट नहीं सकता। जब तक ज्ञेयों में अपनापन एवं सुखबुद्धि बनी रहेगी तब तक स्वतत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज्ञानतत्त्व) में अपनापन उत्पन्न नहीं हो सकेगा। स्वतत्त्व में अपनापन आये बिना, ज्ञान कभी स्व में एकाग्रता नहीं कर सकेगा, उसके बिना निराकुल आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकेगी। अतः जिसप्रकार ज्ञानतत्त्व की यथातथ्य प्रतीति करना हमारा परम कर्तव्य है, उसीप्रकार ज्ञोयतत्त्व की यथातथ्य प्रतीति होना आवश्यक है ।

ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप

उपरोक्त ज्ञानतंत्त्व (त्रिकाली ज्ञायकभाव) के अतिरिक्त, जो कुछ भी है, वह सब ज्ञेय होने से ज्ञेयतत्त्व ही हैं। सिद्धान्त अपेक्षा भी ज्ञेय का सामान्य स्वरूप भी यही है कि जो भी ज्ञान में ज्ञात हो वह सब ज्ञेयतत्त्व हैं।

ज्ञानतत्त्व तो भगवान अरहंत का आत्मा है और उनके ज्ञान में जो भी ज्ञात हो रहे हैं, वे सब ज्ञेय हैं। इस आत्मा के लिए भी वे वास्तव में ही ज्ञेय हैं और ज्ञेयों का स्वरूप भी वही है जो उनके ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है। ज्ञेयों को जानने की प्रक्रिया भी वही है जो उनके जानने की प्रक्रिया है। उनकी आत्मा, ज्ञान की परिपूर्णता होने से सादि अनन्तकाल तक वैसा एवं उसीप्रकार से ज्ञेयों को जानते रहेंगे। अपने ज्ञानतत्त्व (त्रिकाली ज्ञायक भाव) को उन्होंने स्व के रूप में स्वीकार कर लिया एवं एकत्वपूर्वक उस ही में लीन रहते हुये भी, परज्ञेयों (लोकालोक) को परज्ञेय के रूप में तन्मयता रहित जानते रहते हैं। फलतः आत्मा सुख (अनाकुल आनन्द) स्वभाव में तन्मय होकर अतीन्द्रिय आनन्द का रसपान अनन्तकाल तक करता रहता है।

अरहंत भगवान को परज्ञेयों का ज्ञान किसप्रकार वर्तता है

भगवान अरहंत को परज्ञेयों के प्रति परपने की श्रद्धा वर्तने से उन ज्ञेयों संबंधी ज्ञान, एकत्वरहित, अतन्मयतापूर्वक, वर्तता रहता है और स्व का ज्ञान अपनेपन की श्रद्धासहित एकत्वपूर्वक स्व में तन्मय होकर वर्तता है। फलतः केवली भगवान परज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुए, अपने आत्मानन्द में अनवरतरूप से लीन रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञेयों को जानने की प्रक्रिया अरहंत के समान हो तो, परज्ञेयों संबंधी ज्ञान, राग का उत्पादक नहीं होता।

अज्ञानी का भी ज्ञानस्वभाव तो वही है जो अरहन्त भगवान का है। लेकिन उसकी जानने की प्रक्रिया अत्यन्त विपरीत है। अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता के कारण, अनादि से पर में ही स्वपने की श्रद्धा सहित वर्तता चला आ रहा है। अतः परज्ञेयों को जानते समय ही स्वपने की श्रद्धापूर्वक जानता है, इसकारण उनसे निरपेक्ष रह ही नहीं सकता; वरन् एकत्वपूर्वक तन्मय होने की चेष्टा करता है। लेकिन पर में तन्मय होना संभव ही नहीं होने से, असफलतापूर्वक, अत्यन्त आकुलित होता हुआ दुःखी होता रहता है। मिथ्या मान्यता का अभाव हो जाने पर, पुरुषार्थपर्वूक अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव को स्व के रूप में जान पहिचानकर स्वीकार कर लेगा एवं ज्ञेयों में परपने की सम्यक् मान्यता उत्पन्न हो जावेगी। इसप्रकार का ज्ञान स्व में एकत्वतापूर्वक एवं परज्ञेयों में एकत्वता रहित निरन्तर वर्तता रहेगा। इसप्रकार के परिणमन के समय चारित्र की निर्बलता के कारण, भूमिकानुसार परज्ञेयों की ओर आकृष्ट हो जाता है तदनुसार आकुलता का वेदन भी करता है। लेकिन ज्ञानी और अज्ञानी के वेदन में तो बहुत बड़ा अन्तर बना ही रहता है।

ज्ञानी का उपयोग जिस समय भी परज्ञेयों से हटकर अपने ज्ञानतत्त्व को उपयोग का विषय बनाता है, उस समय तो उसका ज्ञान भी पर से निरपेक्ष होकर स्व में तन्मय (लीन) हो जाता है और केवली के समान आंशिक ज्ञानानन्द का अनुभव (वेदन) करता है। लेकिन उसके अनुभव का काल एवं अगाढ़ता गुणस्थानानुसार ही रह पाती है। अनुभव काल से बाहर आने पर, उपयोग पर की ओर जाने पर भी निरन्तर वर्तने वाला परिणमन, जिसको परिणति कहा जाता है, वह वर्तती रहती है। जैसे-जैसे चारित्र बल बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता बढ़ती जाती है और परिणति बलिष्ठ होती जाती है; तदनुसार ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(शुद्धोपयोग) निर्विकल्प दशा जल्दी-जल्दी आने लगती है तथा प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है और स्थिर रहने की काल मर्यादा भी बढ़ती जाती है। इसके फलस्वरूप ऐसा अमूल्य क्षण प्राप्त हो जाता है कि ज्ञानी का उपयोग स्व में ऐसा लीन (स्थिर) हो जाता है कि बाहर ही नहीं निकलता, वही पूर्णदशा अर्थात् अरहंतदशा है। इसप्रकार ज्ञानी अपने अमूल्य जीवन को सफल बना लेता है और सादि अनन्त काल तक अनाकुल आनन्द का उपभोग करता रहता है। धन्य हो वह क्षण। ज्ञानी की निरन्तर भावना रहती है कि —

अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥ टेक॥
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ में।
सब प्रकार के मोहबन्धन को तोड़कर,
कब विचरूँगा महत् पुरुष के पन्थ में॥
भव्य दिगम्बर मुनि मुद्रा को पाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१॥
परभावों से उदासीनता ही रहे,
मात्र देह तो हो संयम हित साधना।
अन्य किसी कारण से भी अन्य न ग्राह्य हो,
हो न देह के प्रति ममत्व की भावना॥
यह वैराग्य हृदय में जब बस जाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥२॥
एकाकी विचरूँ निर्जन शमशान में,
वन पर्वत में मिले सिंह संयोग जो।
आसन रहे अडोल न मन में क्षोभ हो,
परममित्र मम जानूँ पाये योग से॥
निजस्वरूप की लीनता नहिं भंग हो,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आयेगा॥३॥

उपरोक्त समस्त कथन का सारांश यह है कि आत्मा की ज्ञानक्रिया किसी प्रकार भी दोष की उत्पादक नहीं है, साथ ही परज्ञेय अथवा परज्ञेयों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंधी ज्ञान भी दोष का उत्पादक नहीं है, दोष का कारण तो अज्ञानी को मात्र अपने स्वरूप में अपनेपन का अभावरूप अज्ञान ही है। इस अज्ञान के अभाव करने का उपाय मात्र एक ही है कि अपने में अपनेपन की मान्यता के साथ परज्ञेयों का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जावे। दोनों का यथार्थ स्वरूप समझकर तद्रूप परिणमन ही इस सारी समस्या का समाधान हो सकता है। अतः मुझे ज्ञानतत्त्व के स्वरूप समझने के साथ ही साथ ज्ञेय तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को भी समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप क्या है?

ज्ञेय का सामान्य लक्षण तो इतना मात्र ही है कि जिनमें ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण हो, वे सब ही ज्ञेय हैं। क्योंकि प्रमेयत्व का अस्तित्व ही इस बात को सिद्ध करता है कि उसको जानने वाली सामर्थ्य विशेष अर्थात् ज्ञान की सत्ता होनी ही चाहिए। ज्ञान की सत्ता भी इस तथ्य को सिद्ध करती है कि जगत में ज्ञेय की सत्ता भी होना ही चाहिए। इसप्रकार विश्व के छहों द्रव्य ज्ञेय हैं, उनमें मेरा आत्मा भी सम्मिलित है। प्रमेयत्व गुण सामान्य गुण है, वह तो द्रव्य मात्र में विद्यमान रहता है, ज्ञान गुण विशेष गुण है वह तो जीव में ही मिलेगा। मेरे आत्मा में दोनों गुण होने से वह तो ज्ञायक भी है एवं ज्ञेय भी है। अतः स्पष्ट है कि जब ज्ञान का धारक ज्ञायक मैं स्वयं ही हूँ तो, मेरे ज्ञान के ज्ञेय भी अपने-अपने गुण पर्यायों सहित जगत के सब ही द्रव्य हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि आत्मा में ज्ञानगुण एवं प्रमेयत्वगुण दोनों ही होने से आत्मा तो ज्ञेयतत्त्व भी है और ज्ञायक भी है।

प्रवचनसार गाथा १४५ की टीका द्वारा इसका समर्थन प्राप्त होता है।

"इसप्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो समस्त लोक है उसे वास्तव में, उसमें अंतःपाती होने पर भी, अचिन्त्य ऐसी स्वपर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है — इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।"

समयसार कलश २७१ के भावार्थ में भी इसका समर्थन है।

"ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्नप्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्यज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते: ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है, और स्वयं ही अपना जानने वाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता — इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करने वाला पुरुष अनुभव करता है।"

इसप्रकार स्पष्ट समझ में आता है कि मेरा ज्ञानतत्त्व अर्थात् ज्ञायक तो अकेला मेरा त्रिकाली तत्त्व आत्मा ही है और ज्ञेयतत्त्व के रूप में तो मेरे आत्मा सहित सारा लोक अलोक है। लेकिन मेरा ज्ञानतत्त्व तो अन्य किसी द्रव्य में है ही नहीं, मात्र मेरे में ही है, अतः मेरा ज्ञानतत्त्व तो मैं स्वयं ही हूँ। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी रह जाता है वह सबका सब ज्ञेयतत्त्व ही है। इसप्रकार ज्ञानतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व के यथार्थ ज्ञान श्रद्धान के द्वारा ही आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रवचनसार गाथा १२९ की उत्थानिका में भी कहा है। "अब इसप्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय (निर्णय) से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्धआत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है।"

आत्मा ही ज्ञानतत्त्व के साथ ज्ञेयतत्त्व कैसे हो सकता है?

प्रश्न — एक ही द्रव्य ज्ञानतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व दोनों कैसे हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर — ज्ञानगुण भी आत्मद्रव्य में है और प्रमेयत्वगुण भी उस ही में है। हर एक द्रव्य में अनन्तगुण होते हैं और सब ही हर समय विद्यमान भी रहते हैं एवं एक साथ कार्यशील भी रहते हैं, अतः आत्मद्रव्य में ज्ञानगुण और प्रमेयत्वगुण दोनों के एक साथ कार्यशील रहने में कोई विरोध नहीं है। हमारे अनुभव से भी सिद्ध होता है कि क्रोध की उत्पत्ति के समय, उसका उत्पाद भी ज्ञान के द्वारा ही ज्ञात होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा में प्रमेयत्वगुण कार्यशील है, अन्यथा वह क्रोध ज्ञान का विषय कैसे बनता? अतः अपना आत्मा ज्ञेय भी है एवं ज्ञायक भी है।

उस आत्मद्रव्य के तीन अंग हैं। एक तो त्रिकालीज्ञायकभाव ध्रुव तत्त्व दूसरा उसमें त्रिकाल रहने वाले अनन्तगुण और तीसरा उनका समय-समय पर उत्पाद-व्यय करती हुई पर्यायें, ये तीनों मिलकर सम्पूर्ण आत्मद्रव्य है। द्रव्य में प्रमेयत्वगुण होने से वह उपरोक्त तीनों में ही व्यापता है। अतः तीनों ही ज्ञेय हैं। इतना अवश्य है कि प्रयोजन सिद्ध करने हेतु मेरा त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व तो स्वज्ञेयतत्त्व है। बाकी गुणभेद तथा पर्याय भेद तो समस्त परज्ञेय ही हैं। समस्त परद्रव्य एवं उनकी सभी पर्यायें तो पर हैं ही; स्वज्ञेय तो मात्र एक त्रिकालीज्ञायक ही है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञायक तो मात्र एक ज्ञायकभावरूप ज्ञानतत्त्व है और वही स्वज्ञेय भी है और वही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी रहता है, वह सब परज्ञेय तत्त्व ही रह जाता है। परज्ञेय के जानने में जब रागी का ज्ञान उपयुक्त होता है, तब राग का उत्पादन होता है एवं आकुलता को प्राप्त करता है; वही ज्ञान जब स्वज्ञेय को जानने में उपयुक्त होता है तो वीतरागता के उत्पादन के साथ-साथ अनाकुल आनन्द का भी अनुभव होता है।

ज्ञेयतत्त्व क्या है?

प्रश्न — ज्ञान जिस ज्ञेय को जानता है, वह ज्ञेय कौन हैं? जानने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला ज्ञान तो अकेला एक ज्ञानतत्त्व है और ज्ञेय कहा जाता है सारा लोकालोक। अत: वह लोकालोक को कैसे जानेगा?

उत्तर — ज्ञानतत्त्व के विषय तो वे ही हो सकेंगे, जिनमें प्रमेयत्व (ज्ञान में ज्ञात होने योग्य शक्ति) गुण हो, कारण जिनमें ज्ञान का विषय बनने की योग्यता होगी, वे ही तो ज्ञान का विषय बन सकेंगे। प्रमेयत्वगुण, सामान्यगुण है। अत: वह हर एक द्रव्य में विद्यमान है; यथा अनन्त जीवद्रव्य जिनमें मेरा आत्मा भी सम्मिलित है, अनन्तानन्त पुद्‌गल परमाणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एवं असंख्य कालाणु इसप्रकार अनन्तानन्त की संख्या के सभी द्रव्यों में यह प्रमेयत्वगुण विद्यमान है। फलत: सभी ज्ञान का विषय बनने की योग्यता रखते हैं और ज्ञानगुण में सबको जानने की योग्यता है। सामर्थ्य की तो मर्यादा नहीं होती। अत: जीवद्रव्य के ज्ञान का सामर्थ्य तो गुण पर्यायों सहित सम्पूर्ण द्रव्यों को जानने का होना चाहिये, इसमें कोई विशेषता नहीं है। इसका साक्षात् प्रमाण भगवान अरहंत की आत्मा है। भगवान अरहंत का ज्ञान, जिनमें ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण विद्यमान है, उन सभी को जानता है, अत: सिद्ध होता है कि ज्ञान लोकालोक को जानता ही है।

प्रश्न — गुण पर्यायों का समुदाय रूप एक पदार्थ है। उनमें से ज्ञान का विषय कौन माना जावे? जिसको ज्ञेय कहा जा सके?

उत्तर — जिसमें प्रमेयत्वगुण हो ऐसा द्रव्य ही तो ज्ञान का विषय बन सकेगा? गुण और पर्याय भी तो उस द्रव्य के ही अंग हैं। द्रव्य के अंग होने से, उनमें ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण व्यापने से वे भी ज्ञेयत्व को प्राप्त हैं। लेकिन द्रव्य के ज्ञेय होने से गुण पर्याय भी उसके अंग होने से, वे भी ज्ञात होते हैं; क्योंकि वे द्रव्य से अभिन्न हैं। ऐसे अभिन्न पदार्थ को जानना ही मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है।

प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व अधिकार के श्लोक ६ के द्वारा ज्ञेयतत्त्व क्या है, यह स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञेय तो द्रव्य-गुण-पर्यायरूप पदार्थ है, जिसके जानने से मोह (मिथ्यात्व) उत्पन्न नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक ६ का अर्थ इसप्रकार है —

"आत्मारूपी अधिकरण में रहने वाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहने वाले ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धि के लिए (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) प्रशम के लक्ष्य से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) ज्ञेयतत्त्व को जानने का इच्छुक जीव, सर्वपदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किंचित्मात्र भी उत्पत्ति न हो।"

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि ज्ञानतत्त्व का यथार्थ निश्चय होने पर ही ज्ञेयतत्त्व का यथार्थज्ञान हो सकता है और ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान करने का लक्ष्य तो निराकुल आनन्द प्राप्त करना (प्रशम प्राप्त करना) होना चाहिये। ज्ञेयतत्त्व को जानने की पद्धति भी स्पष्ट है कि गुण, पर्यायों के समुदायरूप अभेद द्रव्य, ज्ञेय बनने से द्रव्यदृष्टि हो जाती है और द्रव्य की दृष्टि से छहों द्रव्यों में कोई असमानता रहती नहीं। अत: मोह की उत्पत्ति भी नहीं होगी।

अज्ञानी उनमें भी भेद करके भेदों को विषय बनाता है, फलत: मोह उत्पन्न होता है। उक्त श्लोक में यह भी कहा है कि इसप्रकार छद्मस्थ को पदार्थ को ज्ञेय बनाने से मोह का अंकुर भी उत्पन्न नहीं होगा और मोह उत्पन्न नहीं होने से स्वाभाविक प्रशम अर्थात् निराकुलता की प्राप्ति होगी। इसका प्रमाण है कि भगवान अरहंत सकल ज्ञेयों के ज्ञायक होते हुए भी, निजानन्द में लीन रहते हैं। कहा भी है —

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरज रहस विहीन॥

अभेद पदार्थ ज्ञेय होने से मोह नहीं होता। अत: पदार्थ की स्थिति समझनी चाहिये। पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाली प्रवचनसार की गाथा ८७ निम्नप्रकार है —

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

"अब जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था (पदार्थों की स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं —

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ — द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायें 'अर्थ' नाम से कही गई हैं। उनमें गुण-पर्यायों का आत्मा द्रव्य है (गुण और पर्यायों का स्वरूप -सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं है) इसप्रकार (जिनेन्द्र का) उपदेश है।

उपरोक्त गाथा के भावार्थ में इस विषय को निम्नप्रकार से और भी स्पष्ट किया है —

"यहाँ संक्षेप में यह बताया है कि जिन शास्त्रों में पदार्थों की व्यवस्था किसप्रकार कही गई है। जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि अर्थ (पदार्थ) अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय, इसके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है, और इन तीनों में गुण और पर्यायों का आत्मा (उसका सर्वस्व) द्रव्य ही है। ऐसा होने से किसी द्रव्य के गुण और पर्याय अन्य द्रव्य के गुण और पर्यायरूप किंचित्मात्र नहीं होते, समस्त द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्यायों में रहते हैं। — ऐसी पदार्थों की स्थिति मोह क्षय के निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रों में कही है।"

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य महाराज प्रारम्भ में ही ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करते हैं कि —

"अब, ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन करते हैं अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं। उसमें प्रथम पदार्थ का सम्यक् (यथार्थ) द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप का वर्णन करते हैं।

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणिभणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ ९३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ — पदार्थ द्रव्यस्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ जीव परसमय (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) हैं।"

इस ही गाथा की टीका के अन्त में परसमय की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि —

"वास्तव में यह सर्वपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली/उत्तम/पूर्ण/योग्य है, दूसरी कोई नहीं; क्योंकि बहुत से जीव पर्यायमात्र का ही अवलम्बन करके, तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है ऐसे मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।"

उपरोक्त टीका के अन्त में वर्णित सर्वपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव की प्रकाशक व्यवस्था को आचार्यश्री ने "पारमेश्वरी व्यवस्था" कहा है। तथा उसको भली, उत्तम, पूर्ण, योग्य भी कहकर, अन्य कोई व्यवस्था है ही नहीं, ऐसा भी निर्देश किया है। अतः उक्त गाथा ९३ की टीका का निम्नांश समझना आवश्यक है। वह निम्नप्रकार है —

"उसमें, अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है। (१) समानजातीय और (२) असमानजातीय। उसमें (१) समानजातीय वह है — जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि; (२) असमानजातीय वह है — जैसे कि जीवपुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयत (पर्याय) की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुण-पर्याय है। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभावपर्याय और (२) विभावपर्याय। उसमें समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुल गुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षटस्थान-हानिवृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति वह स्वभावपर्याय है, (२) रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्त्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने में आने वाले स्वभाव-विशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति विभावपर्याय है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न — उपरोक्त टीका के अध्ययन से प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानी को जो पदार्थ ज्ञेयरूप होता है, उसकी यथार्थ स्थिति क्या है?

उत्तर — सम्यग्ज्ञान में ज्ञेय तो द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक सम्पूर्ण पदार्थ होता है, लेकिन वह पदार्थ सामान्यविशेषात्मकरूप एक होता है पदार्थ जो ज्ञान में ज्ञेय हुआ है वह तो समस्तगुणों का समूह रूप एक पदार्थ तथा कालसापेक्ष अनादि अनन्त वर्तता हुआ (परिणमन करता हुआ) वही पदार्थ ज्ञेय है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान में जिसमें सर्व विशेष गौण किये हुये हैं ऐसा, द्रव्य एवं गुणों के सामान्यांश सहित सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञेय होता है। सामान्यांश में उस ही द्रव्य में बसने वाले विशेषांशों का अभाव नहीं वर्तता, वरन् उन विशेषांशों का भी गौणरूप से ज्ञेय में समावेश रहता है। यह ही द्रव्यार्थिक नय का विषय है। प्रवचनसार की गाथा ११४ की टीका में कहा भी है —

"वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवाले को क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को देखने वाली दो आँखें हैं — (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक।"

वह अभेद पदार्थ को ज्ञेय बनाने के विपरीत, पर्याय में अपनापन होने से, पर्याय को ज्ञेय बनाता है, अतः वह परसमय-मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

उपरोक्त पारमेश्वरी व्यवस्था में जिन विशेषांशों की चर्चा की है अतः उनको भी समझना चाहिये, जिससे मोहांकुर की उत्पत्ति न हो।

उक्त गाथा ९३ की टीका में विशेषांशों के दो भेद किये — (१) विस्तारविशेष और (२) आयतविशेष। उन दोनों में से विस्तारविशेष तो गुणात्मक होने से वे तो द्रव्य में अभेद वर्तते ही हैं, अतः द्रव्य ज्ञेय होने पर उनका तो समावेश पदार्थ में हो ही जाता है। लेकिन आयतविशेष में अनेक भेद पड़ते हैं, जिनका वर्णन उपरोक्त टीका में किया गया है। उसके भेद (१) समानजातीय द्रव्यपर्याय (२) असमानजातीय द्रव्यपर्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसीप्रकार (१) स्वभावगुणपर्याय (२) विभावगुणपर्याय। इसप्रकार आयत विशेष के ही चार भेद हो जाते हैं। उक्त चार पर्यायों में से समानजातीय द्रव्यपर्याय का तो आत्मा से कोई संबंध ही नहीं है। वे तो पुद्गल की पर्यायें हैं। उसीप्रकार गुण-पर्यायों में से भी स्वभावपर्याय तो स्वाभाविक अनादिअनन्त अगुरुलघुत्व की पर्याय है। अतः उपरोक्त दोनों पर्यायें तो संसारी आत्मा को मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत नहीं रहतीं। मात्र असमान जातीय द्रव्य-पर्याय एवं विभावगुणपर्याय, ये दोनों ही, आत्मा तथा पर के कारण प्रवर्तमान होती हुई आत्मा से संबंध रखती हैं। अज्ञानी ने पर्यायों में ही अपनापन मान रखा है, अर्थात् पर्याय दृष्टि से ज्ञेय को जानता है, ये ही आत्मा को मोह उत्पादन में कारण हो सकती हैं। जिस पर्याय के अवलम्बन को टीका के अन्तिम चरण में तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोह की उत्पत्ति का कारण, बताया है वह इन ही पर्यायों की ओर संकेत करता है एवं गाथा में भी इन्हीं के आलम्बन को पर्यायमूढ एवं परसमय कहा है। अतः स्पष्ट है कि जिनको मोहांकुर की उत्पत्ति नहीं होने देना हो, उनको उक्त पर्यायों का अवलंम्बन छोड़ देना चाहिए।

दूसरी अपेक्षा से विचार किया जावे तो असमानजातीयद्रव्यपर्याय एवं विभाव-गुण-पर्याय, दोनों ही पर सापेक्ष पर्यायें हैं। अतः अगर पर की अपेक्षा दृष्टि में न लेते हुये, मात्र द्रव्यदृष्टि से विचार किया जावे तो दोनों पर्यायों का आत्मा में अस्तित्व ही नहीं बनता। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय सहित मात्र पदार्थ ज्ञान का ज्ञेय होने पर तथा पर्याय को गौण करके, मात्र द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो ज्ञेय को प्राप्त पदार्थ, मोहांकुर की उत्पत्ति का कारण नहीं होता। अज्ञानी उपरोक्त दृष्टि से रहित द्रव्य स्वभाव से अनभिज्ञ, मात्र पर्याय का ही अवलम्बन लेकर परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि होता हैं।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान के समक्ष ज्ञेय तो उपरोक्त प्रकार से द्रव्य-गुण-पर्याय सहित पदार्थ ही होता है, उसमें द्वैत (दोपने) का अभाव होने से, जिसको ज्ञातृतत्त्व की यथातथ्य प्रतीति वर्तती है, उसको ज्ञेय संबंधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान वर्तने पर भी मोहांकुर उत्पन्न नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अरहंत भगवान का ज्ञान है।

उक्त प्रकरण के समर्थन में इस ही ग्रन्थ में स्वसमय-परसमय की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए गाथा ९४ के पूर्व उसकी उत्थानिका में कहते हैं कि —

"अब आनुषंगिक ऐसी यह भी स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (अर्थात् स्वसमय और परसमय का भेद) निश्चित करके उसका उपसंहार करते हैं।"

उक्त गाथा की टीका के विषय को संक्षेपीकरण कर भावार्थ में स्पष्ट करते हैं कि —

"मैं मनुष्य हूँ, शरीरादि की समस्त क्रियाओं को मैं करता हूँ, स्त्री-पुत्र-धनादि के ग्रहण-त्याग का मैं स्वामी हूँ।" इत्यादि मानना तो मनुष्य व्यवहार (मनुष्यरूप प्रवृत्ति) है; मात्र अचलित चेतना वह ही मैं हूँ, ऐसा मानना परिणमित होना सो आत्मव्यवहार (आत्मारूप प्रवृत्ति) है।

जो मनुष्यादि पर्याय में लीन हैं, वे एकान्तदृष्टि वाले लोग मनुष्य व्यवहार का आश्रय करते हैं, इसलिए रागी-द्वेषी होते हैं, और इसप्रकार परद्रव्यरूप कर्म के साथ संबंध करते होने से वे परसमय हैं; और जो भगवान आत्मस्वभाव में ही स्थित हैं वे अनेकान्तदृष्टि वाले लोग मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करके आत्म व्यवहार का आश्रय करते हैं, इसलिए रागी-द्वेषी नहीं होते अर्थात् परम उदासीन रहते हैं और इसप्रकार परद्रव्यरूप कर्म के साथ संबंध न करके मात्र स्वद्रव्य के साथ ही संबंध करते हैं, इसलिए वे स्वसमय हैं।"

इसप्रकार उपरोक्त प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है कि आचार्यश्री ने मात्र असमानजातीय द्रव्य-पर्याय को ही परसमय के कारणरूप में मुख्य लिया है, विभावगुणपर्याय को नहीं लिया। इसका अर्थ यह नहीं हैं कि विभावगुणपर्याय परसमय का कारण नहीं होती? अवश्य होती है, लेकिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय पर चर्चा समयसार ग्रन्थाधिराज में स्वतंत्ररूप से विस्तार से करेंगे। यहाँ तो स्पष्ट है कि आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ में असमानजातीय द्रव्यपर्याय को मुख्यता से भेदज्ञान कराने मूल आधार बनाया है। ज्ञानतत्त्व के समक्ष, ज्ञेयतत्त्व तो यथार्थतः अभेद पदार्थ (द्रव्य) होते हैं, मात्र पर्याय नहीं। लेकिन वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी, मात्र पर्याय जैसा ही एवं जितना ही द्रव्य को मानकर उसको ही ज्ञान का ज्ञेय बनाता है अर्थात् स्वीकारता है। फलतः परसमय होता हुआ अनन्त आकुलता भोगता रहता है।

उपरोक्त गाथा ९४ की टीका के भावार्थ से स्पष्ट है कि जो पर्याय में ही लीन हैं, वे जीव एकान्तदृष्टि वाले होने से मनुष्य व्यवहार का आश्रय करते हैं, अतः रागी-द्वेषी होते हैं।

आत्मा का प्रयोजन तो मात्र सुखी होना है, वह सुख वीतरागता द्वारा ही प्राप्त होता है और वीतरागता सम्यक्त्व के बिना नहीं होती। जिसका प्रमाण है कि भगवान अरहंत को बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोह के अभावात्मक परम वीतरागता प्राप्त हो जाने के पश्चात् तेरहवें गुणस्थान में अनन्तसुख, अनन्तज्ञान आदि प्रगट होते हैं। अतः एकमात्र वीतरागता से ही मुझे भी सुख प्राप्त हो सकेगा। ज्ञान के समक्ष तो ज्ञेय के रूप में पदार्थ ही उपस्थित रहता है, लेकिन अज्ञानी उसकी उपेक्षाकर पर्यायों में अपनापन होने से मात्र पर्याय को ही ज्ञेय बनाता है। अतः मिथ्यात्व सहित के राग का उत्पादक होने से संसार परिभ्रमण होता है। उपरोक्त गाथा से भी यही प्रमाणित हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द के तीन ग्रन्थों की कथन शैली

दृष्टि के विषय का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान कराने के भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य के मुख्य तीन ग्रन्थ हैं — (१) पंचास्तिकाय, (२) प्रवचनसार और (३) समयसार। तीनों ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य तो आत्मा को त्रिकाल ज्ञायक सिद्ध करते हुये अकर्ता स्वभावी सिद्ध करते हुये उसमें अपनापन कराना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) पंचास्तिकाय की शैली – यह ग्रन्थराज मुख्यतया विश्वव्यवस्था एवं विश्वव्यवस्था का मूल सूत्रधार ऐसे जीव की सामान्य व्यवस्था का ज्ञान कराने वाला एक अद्वितीय ग्रन्थ है। पांच अस्तिकायों में कालद्रव्य मिलाकर छह द्रव्यों का समूह रूप लोक है। उसमें रहने वाले छहों द्रव्यों की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करते हुये "सत्द्रव्यलक्षणं" "उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत्" तथा "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इन तीन सूत्रों के उद्देश्य को सिद्ध करते हुये विश्वव्यवस्था का ज्ञान कराया है। विश्व में छहों द्रव्य एक दूसरे से निरपेक्ष रहते हुये निर्बाध रूप से अपने-अपने स्वभावों के साथ अपने-अपने स्वक्षेत्र में स्वतंत्रतया परिणमन करते हुये, उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत् बने रहकर विश्व की व्यवस्था को टिकाये हुये हैं। इसप्रकार जीव पुद्गल सहित छहों द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन में, किसी भी समय किंचित्मात्र भी हस्तक्षेप सहायता अथवा बाधा नहीं पहुंचा सकता। इसीप्रकार जीव भी अपनी विकारी अथवा निर्विकारी पर्यायों का स्वयं ही स्वतंत्रतया षट्कारक रूप से करता है, इसीप्रकार द्रव्य कर्म रूप पुद्गल भी अपनी-अपनी पर्यायों के षट्कारक रूप से स्वयं ही करता है आदि कथनों से जीव को छहों द्रव्यों के परिणमनों के ज्ञायक रहते हुये, उनके प्रति अकर्तापने की श्रद्धा कराने का प्रयास किया है।

तत्पश्चात् उत्तरार्द्ध में जीवद्रव्य में वर्तने वाले नवतत्त्वों (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) की व्याख्या के द्वारा जीव को ही स्वयं स्वतंत्रता से इन सब पर्यायों का कर्ता बताकर मोक्षमार्ग की प्रारम्भिक भूमिका का ज्ञान कराया है।

अन्त में दोनों प्रकरणों के सारभूत मोक्षमार्ग प्रपंचचूलिका के द्वारा निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान कराया गया है। इसकी शैली में जीवद्रव्य अपनी विकारी अथवा निर्विकारी सभी प्रकार की पर्यायों का कर्ता है, किसी भी पर की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता। इसप्रकार आत्मा को पर का एवं पर के परिणमन का अकर्ता रहते हुये, अपनी सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायों का कर्ता माना गया है और इसही को निश्चय कहा गया है। उक्त ग्रन्थ की गाथा ६१ व ६२ इसी तथ्य को सिद्ध करती है —

गाथा ६१ की टीका — "निश्चय से जीव को अपने भावों का कर्तृत्व है और पुद्गल कर्मों का अकर्तृत्व है ऐसा यहाँ आगम द्वारा दर्शाया गया है॥ ६१ ॥"

गाथा ६२ की टीका — "निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने-अपने रूप के) कर्ता हैं ऐसा यहाँ कहा है।"

टीका का संक्षेपीकरण कर भावार्थ में इसप्रकार कहा है —

"इसप्रकार पुद्गल की कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छहकारक रूप से वर्तता है इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है । पुद्गल की और जीव की उपरोक्त क्रियायें एक ही काल में वर्तती हैं तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गल कारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारक की अपेक्षा नहीं होती॥ ६२ ॥"

इसप्रकार पंचास्तिकाय का उद्देश्य तो छहों द्रव्यों के परिणमन की स्वतंत्रता के साथ आत्मा उनका अकर्ता ज्ञायक है, ऐसी श्रद्धा कराने का है। अर्थात् प्रमाणज्ञान के विषयभूत अपने आत्मद्रव्य से अन्य प्रमाण के विषयभूत छहों द्रव्यों से भेदज्ञान कराकर अपनी विकारी निर्विकारी सभी पर्यायों का कर्तृत्व स्वीकार कराकर, उसमें कर्म आदि किसी द्रव्य के कर्तृत्व का अभाव है, ऐसी श्रद्धा कराकर, अपने आत्मद्रव्य में ही सीमित कराने वाला ग्रन्थ है। इसकी शैली में दृढ़तापूर्वक आत्मा के विकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावों का षटकारक रूप से आत्मा को ही कर्ता कहकर परद्रव्यों के कर्तृत्व की मान्यता छुड़ाई है। वास्तव में तो यह विश्व व्यवस्था स्थापन कराने वाला आगम ग्रन्थ है। लेकिन दूसरे अधिकार में आत्मा की पर्याय में होने वाले विकारी भावों की स्थिति बताकर संसार का अभाव करने का उपाय बताने वाले मोक्षमार्ग प्रपंचचूलिका द्वारा पूर्णता प्राप्त कराने का उपाय भी बताया है। इसप्रकार इस ग्रन्थ की रचना आगम परक, अध्यात्म का प्रयोजन सिद्ध कराने वाली है।

आत्मार्थी को इसके अध्ययन द्वारा ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मैं ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी होते हुये भी संसार दशा में तो पर्याय से अशुद्ध विकारी हूँ। अत: मेरे राग-द्वेष मोह आदि विकारी भावों को करने वाला मात्र मैं अकेला ही हूँ। कर्म आदि अन्य कोई भी मेरे कैसे भी भाव नहीं करा सकते क्योंकि जो करेगा वही भोगेगा और अकेला वह ही नाश भी कर सकेगा ऐसी श्रद्धा उत्पन्न करके अपनी पर्यायों में उत्पन्न होने वाले नवतत्त्वों का स्वरूप समझकर हेय उपादेय भाव से अपने कल्याण अर्थात् आकुलता रहित सुखी होने का उपाय करना चाहिये।

(२) प्रवचनसार की शैली – प्रवचनसार अर्थात् दिव्यध्वनि का सार। वास्तव में यह अध्यात्मपरक आगम ग्रन्थ है। मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिये ज्ञानप्रधानता से दृष्टि के विषय का ज्ञान कराने वाला अनुपम ग्रन्थ है। इसमें सर्वप्रथम ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन के द्वारा हमारे त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव द्रव्य का परिचय कराने के लिये, भगवान अरहन्त की आत्मा के ज्ञान एवं सुख स्वभाव की पराकाष्ठा को प्रगटता की महिमा दिखाकर हमारे द्रव्य की सामर्थ्य का ज्ञान कराया, तत्पश्चात् मेरी आत्मा को स्वयं अरहन्त बनने का सरलतम उपाय गाथा ८० से ९२ तक समझाकर, अज्ञानी को ज्ञानी अर्थात् आत्मा का अनुभव प्राप्त कराकर ज्ञानतत्त्व प्रगट करा दिया, ऐसे ज्ञानी की दृष्टि भी सम्यक् हो गई, ज्ञान में ही सम्यक्नय प्रगट हो गये तथा अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर स्वरूपाचरण चारित्र भी प्रगट हो गया। इसप्रकार के परिणमन वाला ज्ञानी ज्ञानतत्त्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान अरहन्त का आत्मा जो वास्तव में ज्ञानतत्त्व रूप परिणत हो गया है, उसके ज्ञान में ज्ञात ज्ञेयों की स्थिति का विस्तार से विवेचन ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में किया है। अरहन्त भगवान के ज्ञान में ज्ञेय तो प्रमाणभूत, द्रव्य-गुण-पर्याय सहित पदार्थ होता है, अकेली पर्याय नहीं। अज्ञानी को पर्याय में ही एकत्वबुद्धि होने से, उसको तो अकेली पर्याय में ही आकर्षण होता है। लेकिन ज्ञानी साधक को आत्मा में अपनापन होकर दृष्टि सम्यक् हो जाने से अपने ज्ञायक को स्व के रूप में मानते हुये, ज्ञान भी सम्यक् हो जाने से द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों का जन्म हो जाने से, ज्ञेयों को भी दोनों नयों के माध्यम से यथातथ्य जानता है।

फलतः असमानता के अभाव से रागादि की उत्पत्ति नहीं होती द्रव्य को जानते समय, पर्याय गौण रह जाती है और पर्याय के ज्ञान के समय द्रव्य गौण रह जाता है; दूसरे पक्ष का अभाव नहीं होता। ज्ञान में गौण वर्तता रहता है; ऐसा ज्ञानी स्याद्वाद के आश्रयपूर्वक दोनों पक्षों के यथार्थ ज्ञान होने से सहजरूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है। दृष्टि सम्यक् होने से श्रद्धा अपेक्षा वह भी ज्ञेयों की स्थिति, अरहंत भगवान के ज्ञान में ज्ञात होने के अनुसार ही मानता है।

ऐसा ज्ञानी साधक ज्ञान व ज्ञेय के यथार्थ भेदज्ञान पूर्वक आत्म साधना करता है तो वास्तविक ज्ञानतत्त्व अर्थात् अरहन्त बन जाने के उपायों की चर्चा चरणानुयोग चूलिका में की है।

इसप्रकार अज्ञानी को ज्ञानी ही नहीं वरन् परमात्मा बनने का सरलतम उपाय, इस ग्रन्थ राज में प्ररूपण किया है। इसमें एक ओर तो स्व के साथ ही लोकालोक के समस्त ज्ञेयों को एक साथ ही जान लेने के स्वभाव का धारक ज्ञायकस्वभावी ज्ञानतत्त्व और दूसरी ओर उक्त ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात होने वाले स्व एवं लोकालोक के समस्त द्रव्य ज्ञेयतत्त्व; दोनों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराकर, ज्ञायकभाव में अपनापन तथा ज्ञेयमात्र में परपना स्थापन कराकर ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि द्वारा आत्मानुभूति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त कराने का कथन है। इसकी शैली पर्याय प्रधानता से द्रव्य का ज्ञान कराने की है। केवली का ज्ञान, स्व एवं पर, अभेद पदार्थ जिसमें सभी गुण एवं पर्यायें अन्तगर्भित होती हैं, उसको ज्ञेय बनाता है, किसी पर्याय विशेष को नहीं। फलतः मोह उत्पन्न नहीं होता। अज्ञानी का ज्ञान मात्र पर्याय विशेष को ज्ञेय बनाकर उसमें एकत्व करता है अर्थात् पर्याय जैसा ही अपने को मान लेता है। इन पर्यायों में अपनापन मानने वाले को ही पर्यायमूढ़ कहा है। इसप्रकार के ज्ञान द्वारा भेदज्ञान कराकर, पर्यायमूढ़ को ज्ञानी बनाने का प्रयास किया है। गुणपर्यायों में विभाव गुणपर्याय का परिचय तो कराया है लेकिन उसका अभाव करने के उपायों पर चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं की गई है। कारण दोनों विषय अलग-अलग हैं। इसलिये दोनों का भेदज्ञान कराने की पद्धति में भी अन्तर है। प्रवचनसार में तो ज्ञानतत्त्व से प्रमाण के विषयभूत पुद्गलद्रव्य के एकत्व का अभाव कराने को भेदज्ञान कराया है। इस भेदज्ञान कराने में मुख्यता से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रयोग करना होता है और विभावगुणपर्यायों का अभाव करने के लिये, त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व का अपनी ही पर्याय से भेदज्ञान कराया जाता है। अतः उसमें अपनापन स्थापन कराने का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, निश्चय-व्यवहारनय के द्वारा एवं उसके विषयों में भूतार्थ-अभूतार्थ करके भेदज्ञान कराने की पद्धति मुख्य होती है। इसलिये प्रवचनसार का विषय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की मुख्यतापूर्वक, ज्ञानतत्त्व से, अन्य सभी द्रव्यों का ज्ञान-ज्ञेय के यथार्थ ज्ञानपूर्वक भेदज्ञान कराया गया है। विभावगुण पर्यायों से भेदज्ञान कराने की विस्तार से चर्चा समयसार ग्रन्थराज में की गई है।

इसप्रकार असमानजातीयद्रव्यपर्याय में प्रमाण का विषयभूत जीव एवं पुद्गल अलग-अलग द्रव्य होते हैं; लेकिन अज्ञानी उन दोनों को अलग-अलग नहीं मानकर, दोनों की एक क्षेत्रावगाही संबंध वाली असमान पर्याय में एकत्व कर ज्ञेय बना लेता है, फलतः उसको मोह (मिथ्यात्व) उत्पन्न होता है। इस ही विषय का विवेचन ज्ञेय तत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त प्रकार से ज्ञान-ज्ञेय के विभागीकरणपूर्वक दर्शन मोह का नाश करने वाले का चारित्र कैसा होता है; उसकी विस्तृत विवेचना आचार्यश्री ने तीसरे चरणानुयोग चूलिका अधिकार में अभूतपूर्व रूप में की है। इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय के यथार्थ विभागीकरणपूर्वक पूर्ण दशा प्राप्त करा देने वाला यह ग्रन्थ है।

(३) समयसार की शैली — भगवंत कुन्दकुन्दाचार्य के भेदज्ञान कराने वाले मुख्य तीन ग्रन्थ हैं। उन सबमें ही स्वतत्त्व तो एकमात्र अपरिणामी ध्रुव ज्ञायकतत्त्व है। उस ही में अपनापन स्थापन कराना, यही तीनों ग्रन्थों का उद्देश्य हैं ज्ञायक तो हर समय हर स्थिति में ज्ञायक ध्रुव ही रहता है और वही मोक्षमार्ग में सर्वदा एवं सर्वत्र मुख्य रहता है। आत्मा की स्वाभाविक पर्याय भी जाननक्रिया है। उसकी जाननक्रिया में समस्त द्रव्य, उनके गुण एवं उनकी हर समय की विकारी निर्विकारी पर्यायें सभी ज्ञात होती हैं। यह तो सहज वर्तनेवाला ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंध अनिवार्य है।

उनमें पंचास्तिकाय के माध्यम से तो छहों द्रव्यों को भिन्न-भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व के आधार से भेदज्ञान कराकर अपने ज्ञायक से भिन्न कर दिये। पश्चात् अपना मानने योग्य एकमात्र आत्मा ही रह गया। उसके ज्ञान में जो ज्ञात हो रहे हैं उनको, ज्ञान स्वभाव एवं ज्ञेयस्वभाव का यथार्थ स्वरूप समझाकर प्रवचनसार के माध्यम से भेदज्ञान कराया। अब अपने ही असंख्य प्रदेशों में उत्पन्न हो रहीं ऐसी विभावगुणपर्यायें भी ज्ञान में ज्ञात हो रही हैं तथा उनको पर मानना भी कठिन है। ऐसी कठिन समस्या का समाधान समयसार ग्रन्थाधिराज में है। समयसार का मुख्य विषय ज्ञायकतत्त्व से विकारी-निर्विकारी पर्यायों को भिन्न श्रद्धान कराकर अपनापना कराना है। इसकी पुष्टि आचार्यश्री की निम्न गाथाओं से होती है।

गाथा २ का सारांश — जो अपने स्वरूप को एकत्वपूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानता एवं परिणमन करता है वह स्वसमय है तथा जो विकारी पर्याय को एकत्वपूर्वक जानता है तथा परिणमन करता है वह परसमय है।

गाथा ५ का सारांश – आचार्यश्री ने प्रतिज्ञा की है कि मैं निजवैभव से उस आत्मा को दिखाऊँगा जो पर से विभक्त है और स्व से एकत्व है।

गाथा ६ का सारांश – जिसको दिखाने की प्रतिज्ञा की है वह आत्मा ज्ञायक है और वह विकारी तथा निर्विकारी पर्यायों से भिन्न ज्ञायक ही है।

इसप्रकार उपरोक्त गाथाओं के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि समयसार की शैली मुख्यता से अपने ही द्रव्य में उत्पन्न होने वाली विकारी-निर्विकारी पर्यायों से भेदज्ञान कराने की है। प्रवचनसार में जिनको विभावगुणपर्याय कहा था, उनसे भेदज्ञान कराने का उद्देश्य है। इस विषय पर विस्तार से चर्चा इसी पुस्तक के आगामी भाग ५ में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में करेंगे। यहाँ तो मात्र इस जिज्ञासा की पूर्ति हेतु यह स्पष्ट किया है कि प्रवचनसार में विकारी गुणपर्यायों से भेदज्ञान की चर्चा क्यों नहीं की गई?

संक्षेप में समझा जावे तो आचार्यश्री ने ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष के अभाव करने की विधि तो प्रवचनसार में दी है और भाव्य-भावक संकर दोष के अभाव करने के उपायों की चर्चा समयसार में की है।

इसप्रकार तीनों ग्रन्थों के सम्यक् अवगाहन करने से अशुद्धता के सभी प्रकारों का अभाव करके आत्मा आत्मानन्द के अनुभव को प्राप्त कर सकता है। ऐसी विधियों का सांगोपांग वर्णन उक्त तीनों परमागमों में आचार्यश्री ने कर दिया है।

असमानजातीय द्रव्यपर्याय को मुख्य करने का कारण क्या?

प्रश्न – गाथा ९३ में विभाव पर्यायें (१)असमानजातीय द्रव्यपर्याय (२) विभाव गुणपर्याय, इसप्रकार दो विभावपर्यायें कहीं हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन विभावगुणपर्याय से भेदज्ञान कराने की चर्चा क्यों नहीं की? द्रव्यपर्याय (असमानजातीय) को ही भेदज्ञान कराने के लिये मुख्य क्यों बनाया?

उत्तर — वास्तव में आत्मा को मोह उत्पन्न कराने के कारणों में तो दोनों ही पर्यायें स्व-पर हेतु से उत्पन्न होने के कारण दोनों ही विभाव हैं अतः दोनों ही समान हैं। इन दोनों में से द्रव्य पर्याय तो भिन्न- भिन्न अस्तित्व रखने वाले दो द्रव्यों में एकत्व करने से उत्पन्न होती हैं लेकिन गुणपर्यायें तो जीव द्रव्य में बसे हुये अनन्त गुणों के परिणमन है। द्रव्य के अनन्त गुणों में और आत्मा में, प्रदेश भिन्नता नहीं है। वे तो सब एक द्रव्य के असंख्यात प्रदेशों में ही उत्पन्न होते हैं। अतः द्रव्यपर्यायों की एवं गुणपर्यायों के भदेज्ञान करने की प्रणाली भी एक कैसे हो सकेगी? विभावद्रव्यपर्याय तो दो द्रव्यों के अलग-अलग स्वतंत्र कार्य है। वास्तव में तो यह कहने मात्र के लिये पर्याय हैं। विभावगुण पर्याय तो आत्मा के गुणों का ही विपरीत परिणमन है। अतः इनके अभाव करने के उपाय भी भिन्न होने से एक ग्रन्थ में दोनों का समावेश करना शक्य नहीं था। इसलिए प्रवचनसार में द्रव्यपर्याय की मुख्यता से कथन किया है।

दूसरी अपेक्षा यह भी है कि इस ग्रन्थ में ज्ञान से ज्ञेय के विभागीकरण की मुख्यता है। अज्ञानी को तो गुणपर्यायों का भान ही नहीं हुआ, वह तो इस असमानजातीय द्रव्यपर्याय अर्थात् शरीर आदि में ही अपनत्व स्थापन कर इस ही को आत्मा के रूप में जानता-मानता चला आ रहा है। अतः जब तक इसका यथार्थ ज्ञान होकर उससे भेदबुद्धि नहीं होगी तब तक गुणपर्यायों से भेद करना तो उसको संभव ही नहीं है। इसप्रकार गुणपर्यायों से भेद करने की अपेक्षा द्रव्यपर्यायों से भेद करना स्थूल है, सरल है एवं प्राथमिक आवश्यकता भी है।

तीसरी अपेक्षा यह भी है कि असमानजातीयद्रव्यपर्याय अर्थात् शरीर के साथ एकत्वबुद्धि तो निगोद के जीव से लगाकर सैनी पंचेन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक के अर्थात् संसार के हरएक अज्ञानी जीव को होती है। असैनी प्राणी को तो विभावगुण पर्यायों का भान ही नहीं होता। अतः शरीर से एकत्वबुद्धि तो स्थूल अगृहीत मिथ्यात्व है; इसके अभाव हुए बिना तो विभावगुणपर्यायों से भेदज्ञान हो ही नहीं सकता। अपने शरीरादि की एकत्वबुद्धि तोड़ने के तत्पश्चात् ही विभावगुणपर्यायों से एकत्वबुद्धि तोड़ने के उपाय समझना कार्यकारी होगा।

अभी तक की चर्चा से हमने ज्ञानतत्त्व के स्वरूप को समझा तथा गाथा ९३ के माध्यम से ज्ञेयतत्त्व के स्वरूप को भी समझा। साथ ही कलश ६ के द्वारा ज्ञान-ज्ञेय के विभागीकरण की पद्धति को भी समझा। तदनुसार ऐसा निर्णय हुआ कि ज्ञानी के ज्ञान में ज्ञेय तो वास्तव में सम्पूर्ण पदार्थ होता है, लेकिन अज्ञानी ऐसा न मानकर मात्र इस शरीर असमान पर्याय में ही अपनापन होने से इसको ही ज्ञेय बनाता है। फलतः उसके मिथ्यात्वरूपी अज्ञान का अभाव नहीं होता, उसको ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराकर, इसके अज्ञान को मिटाने का प्रयास किया गया है। इसमें सभी द्रव्यों की गुणपर्यायें चाहे वे शुद्ध हों, अशुद्ध हों, विकारी हों, निर्विकारी हों, सभी को अपने-अपने द्रव्यों में समाहित करके अखण्ड द्रव्य को ज्ञेय माना है क्योंकि सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में अखण्ड द्रव्य ही ज्ञेय होता है।

अतः प्रवचनसार में विभावगुणपर्यायों से भेदज्ञान करने की चर्चा को याद ही नहीं किया है। प्रत्युत् गाथा १८९ की टीका में तो अपनी विभाव गुणपर्यायों का कर्ता आत्मा है ऐसा निश्चयनय है यह कहा है। अविकल टीका इसप्रकार है —

टीका — "राग परिणमन ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा राग परिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करने वाला है; यह शुद्ध द्रव्य का निरूपण स्वरूप निश्चयनय है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसप्रकार गुणपर्यायों सहित पूरे पदार्थ को जो ज्ञेय करता है, उसके ज्ञान में विषमता का अभाव वर्तता है। फलतः मोह की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराना ही इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है।

उपरोक्त सभी अपेक्षाओं की मुख्यता से प्रवचनसार में असमान-जातीयद्रव्यपर्याय को भेदज्ञान कराने के लिये मुख्य रखा है।

ज्ञानतत्त्व की भिन्नता के प्रकार

वास्तव में ज्ञानतत्त्व तो त्रिकालीज्ञायकभाव ही है। उसके लिये छहों द्रव्यों के अतिरिक्त अपनी आत्मा में ही बसे अनन्त गुण, अनन्त धर्म एवं विकारी-निर्विकारी सभी पर्यायें भी परज्ञेय हैं; उनको जानने में किसप्रकार भूल होती है, उस विषय पर चर्चा तो भाग ५ में करेंगे। इस भाग में तो मुख्यतः ज्ञायकपरमात्मा (ज्ञान तत्त्व) को छह द्रव्य किसप्रकार ज्ञेय बनते हैं, जिससे दर्शन मोह की उत्पत्ति नहीं होती और अज्ञानी उनको ज्ञेय बनाने में किसप्रकार की भूल करता है, जिससे उसको मोह उत्पन्न हो जाता है, इस विषय को ही स्पष्ट समझने के लिये चर्चा की सीमित रखेंगे। अतः पाठकों को भी अपने विचारों को इस विषय तक ही सीमित रखना चाहिये।

ज्ञान का अन्य द्रव्यों से क्या संबंध है?

वस्तुस्थिति यह है कि मेरे आत्मद्रव्य से अन्य, सभी द्रव्य, जो संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त हैं; वे सब ही भिन्न हैं। उन सबके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। मेरे आत्मद्रव्य के स्वचतुष्टय में उन सभी का अत्यन्ताभाव है। अतः उनमें से किसी के साथ भी मेरा सम्बन्ध तो किसी प्रकार का बन ही नहीं सकता। लेकिन मेरे में एक अचिन्त्य अद्भुत स्वभाव वाला ज्ञानगुण विद्यमान है जो कि उन ज्ञेयों तक पहुँचे बिना तथा उन ज्ञेयों को भी अपने में बुलाये बिना/सन्मुख हुये बिना, अपनी स्व-पर प्रकाशक शक्ति सामर्थ्य से, सभी द्रव्यों को, उनके अनन्त गुणों को एवं उनकी प्रतिसमय उत्पन्न होने वाली पर्यायों को भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान लेता है। अतः उनके साथ आत्मा का मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। ज्ञान और ज्ञेय में अन्य किसी प्रकार का संबंध है ही नहीं फिर भी किसी प्रकार का संबंध मान लेना अज्ञान ही है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। समस्त द्वादशांग वाणी इस ही का विस्तार है।

विश्व के सभी पदार्थों का स्वभाव है कि वे अपन-अपने गुण-पर्यायों में ही परिणमन करें, उनकी मर्य्यादा मात्र इतनी ही है। विश्व के पदार्थों में आत्मा भी एक पदार्थ है अतः उसके परिणमन की भी मर्यादा अपना द्रव्य ही तो है। स्व-पर प्रकाशक स्वभावी जानने की पर्याय का परिणमन भी, अपने में अपने स्वभाव सामर्थ्य से रहता हुआ ही करेगा इसही कारण अपने से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान करने के लिये उसको ज्ञेय के पास जाने की अथवा उसके सन्मुख होने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसा तो ज्ञान का स्वभाव ही है।

उपरोक्त परिस्थिति द्वारा स्पष्ट समझ में आता है कि ज्ञान को अपनी जाननक्रिया के सम्पन्न (परिणमन) करने के लिये किंचित्मात्र भी किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञानपर्याय में जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होती है, वह उस समय उस ही को निरपेक्ष रहकर जानते हुये अपने में परिणमती रहती है। यह निश्चय अर्थात् वास्तविक स्वरूप एवं कथन है। उस समय उस पर्याय की योग्यता किस ज्ञेय को जानने की थी, इसका ज्ञान कराने के लिये उस समय के संबंध को ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के नाम से कहा जाता है। अतः यह व्यवहार है एवं व्यवहार कथन है।

इसप्रकार के निरपेक्ष परिणमन को भी ज्ञेय-ज्ञायक संबंध कहना वास्तव में व्यवहार ही है। लेकिन विश्व की एवं ज्ञान की तथा ज्ञेय की स्थिति इसप्रकार का ज्ञान कराये बिना, समझ में नहीं आ सकती। आत्मा को छहों द्रव्यों के परिणमनों का ज्ञान अवश्य होता है, अन्यथा ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः इसप्रकार का संबंध तो मात्र दोनों के सहज स्वाभाविक परिणमन को बतलाने वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंध है। ऐसा संबंध राग का उत्पादक नहीं होता। इसका प्रमाण है भगवान अरहंत का ज्ञान।

ऐसे ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को निमित्त-नैमित्तिक संबंध के नाम से भी कहा जाता है। क्योंकि ज्ञेय द्रव्य एवं ज्ञायक द्रव्य दोनों निरपेक्ष रहकर भी, एक समय एक सरीखा परिणमन कर रहे हैं। इसप्रकार दोनों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन होते हुये भी उनका निमित्त-नैमित्तिक रूप संबंध कहना, व्यवहार कथन है। उस समय के उपादानरूप परिणमन का परिचय कराने के लिये, उस पर्याय को नैमित्तिक कहा जाता है। ऐसा नाम ही अज्ञानी को भ्रम का कारण बन जाता है। वस्तुस्वरूप का ज्ञान होने से ऐसे अज्ञान का नाश होता है।

ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयरूप निमित्त का आकार देखकर, ज्ञेय की मुख्यता से ज्ञान की पर्याय को ज्ञेयाकार भी कहा जाता है, वास्तव में तो ज्ञानपर्याय अपनी योग्यता से ही उस आकार परिणमी है। इस अपेक्षा भी ज्ञेय-ज्ञायक के इसप्रकार के संबंध को निमित्त-नैमित्तक संबंध के नाम से जिनवाणी में कहा गया है।

उपरोक्त सभी संबंधों की वास्तविक स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होने पर भी आत्मा का उनके साथ कर्त्ता-कर्म अथवा अन्य कोई प्रकार का संबंध बन ही नहीं सकता, क्योंकि दो भिन्न-भिन्न सत्ताधारी द्रव्यों में किसीप्रकार का संबंध कैसे हो सकता है?

ज्ञाता ज्ञेय संबंध में राग की उत्पत्ति क्यों?

प्रश्न — हमारे ज्ञान में भी ज्ञेय ही तो ज्ञात होते हैं फिर हमको (अज्ञानी को) राग क्यों हो जाता है?

उत्तर — केवली का ज्ञान परज्ञेयों से अत्यन्त निरपेक्ष रहते हुये परिणम रहा है अत: किंचित् भी राग का उत्पादक नहीं होता। इसीप्रकार ज्ञानी का ज्ञान भी जितने अंश में ज्ञेय निरपेक्ष वर्तता है उतने अंश में वह भी राग का उत्पादक नहीं होता। तदनुसार श्रद्धा ने भी ज्ञेयों से अपनेपन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अभाव कर दिया, अतः श्रद्धा भी तद्रूप हो चुकी है। इसलिये ज्ञान भी ज्ञेयों की ओर वृत्ति को झुकने नहीं देना चाहता। लेकिन चरित्रगत निर्बलता के कारण, ज्ञेयों से पूर्ण निरपेक्ष रहते हुये परिणमन नहीं कर पाता, फलतः जितना उस ओर झुक जाता है उतना राग तो उसको भी उत्पन्न होता है। लेकिन ज्ञेयों में परपना होने से उपेक्षित बुद्धिपूर्वक झुकता है अतः ज्ञानी उस निर्बलता का भी क्रमशः अभाव करके अरहंत दशा को प्राप्त हो जावेगा, क्योंकि अस्वाभाविक दशा ज्यादा काल रह नहीं सकती।

अज्ञानी जीव का ज्ञान भी ज्ञेयों से तो भिन्न रहते हुये ही वर्तता है, क्योंकि वस्तु अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकती। लेकिन अज्ञानी उक्त स्वभाव को नहीं स्वीकारता। उसकी श्रद्धा विपरीत होने से मानता है कि मैं ज्ञेयों का स्वामी हूँ तथा मेरा सुख ज्ञेयों में है। अतः वह उन से निरपेक्ष रह नहीं सकता? बल्कि उनमें से किसी को अच्छा मानकर रखने के लिये अथवा किसी को खराब मानकर दूर करने के लिये झपट्टे मारता रहता है। अतः राग अथवा द्वेष उत्पन्न करता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानी का ज्ञान भी रागादि का उत्पादक तो नहीं है वरन् उसकी उल्टी मान्यता रूपी अज्ञान ही रागादि का उत्पादक है।

अन्य अपेक्षा से भी विचार किया जावे तो ज्ञात होता है कि जीवद्रव्य के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्य भी विश्व में हैं। वे अचेतन होने से स्व-पर के ज्ञायक नहीं हैं। वे तो सब आपस में निरपेक्ष रहते हुये ही परिणमन करते रहते हैं। अतः उनमें रागादि की उत्पत्ति होना संभव ही नहीं है। लेकिन जीवद्रव्य स्व-पर का ज्ञायक होने से, परद्रव्य इसके ज्ञान में ज्ञेय के रूप में प्रतिभासित होते हैं। अगर यह जीवद्रव्य भी उन ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुये परिणमन करता रहे तो इसको भी रागादि की उत्पत्ति की संभावना कैसे हो सकती है? प्रवचनसार की गाथा ५५ की टीका में कहा भी है कि —

"वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानी भी परज्ञेयों से निरपेक्ष वर्तने पर स्व में एकत्वपूर्वक परिणमन करता रहेगा। फलस्वरूप चेतन होने से अपने आत्मा में बसे हुये आत्मानन्द का पान कर सुखी हो सकेगा। इसका प्रमाण भी है भगवान अरहंत की आत्मा। उनका ज्ञान पर निरपेक्ष होकर स्व में एकत्वपूर्वक परिणमन कर रहा है, अतः वे अनन्त सुख का अनन्तकाल तक अनुभव करते रहेंगे।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेय निरपेक्ष वर्तना ही है, अतः स्वाभाविक परिणमन ही सुखी होने का उपाय है और पर से संबंध जोड़ते हुये परिणमन करना दुःखी होने का अर्थात् संसार का कारण है।

उक्त कथन सुनकर कोई मिथ्याबुद्धि ऐसा तात्पर्य निकाले कि "ज्ञेय-ज्ञायक संबंध तो मात्र कहने मात्र का संबंध है, वास्तव में तो परज्ञेयों को ज्ञान जानता ही नहीं है।" तो ऐसी मान्यता अत्यन्त विपरीत है। ज्ञान का स्वभाव ही जानने का है अतः वह किसको न जाने? स्व अथवा पर ज्ञेय मात्र जितने भी हों सबको जानता ही है। लेकिन अन्य सब प्रकार के संबंधों का निषेध करने के लिये ऐसा कहा गया है कि ज्ञेय से निरपेक्ष ज्ञान का पर के साथ कोई प्रकार का संबंध नहीं है। फलतः उसको राग का उत्पादन नहीं होता। अतः जानने का निषेध नहीं किया है।

ज्ञेय निरपेक्ष ज्ञान ही असीमित हो सकता है

निरपेक्ष का अर्थ है, किसी के प्रति अच्छेपने का, किसी के प्रति बुरेपने का भाव अथवा किसी को ग्रहण करने का, किसी को त्याग करने का भाव नहीं होना। अर्थात् तटस्थतापूर्वक देखनेवाले साक्षी की भांति, किसी के प्रति किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता।

ज्ञान का स्वभाव, ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुये तटस्थ-दृष्टा-साक्षी पुरुष की भांति जानने का है। इसीप्रकार ज्ञेयों का भी स्वभाव ज्ञाता से निरपेक्ष रहते हुये, उनमें प्रमेयत्वगुण होने से जो भी उनको जानना चाहे, उसके ज्ञान का विषय बनने का स्वभाव है। इसप्रकार दोनों ही एक दूसरे से निरपेक्ष रहते हुये परिणमते हैं; उसी को ज्ञाता-ज्ञेय संबंध कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसप्रकार जगत के अनन्त द्रव्यों को ज्ञान, एक ही समय में एक साथ जाने तो भी वे ज्ञेयद्रव्य, अपने प्रमेयत्वगुण के कारण एकसाथ ही सबके ज्ञान के विषय बन सकते हैं; तो फिर आत्मा भी अनन्त द्रव्यों को अपने ज्ञानगुण के द्वारा एक साथ एक ही समय में, क्यों नहीं जान सकेगा? अवश्य जान सकेगा। जबकि प्रमेयत्वगुण जानने के लिये असीमित है तो ज्ञानगुण कैसे सीमित हो सकेगा? स्वभाव तो असीमित ही होता है।' अतः ज्ञान का स्वभाव भी क्षेत्र, काल से अमर्यादित रहता हुआ जानने योग्य सभी को जानने वाला है। लेकिन इतना अवश्य है कि ऐसा तभी संभव हो सकेगा जबकि वह ज्ञान किसी ज्ञेय विशेष के प्रति आकर्षित नहीं हो और निरपेक्ष रहकर जानने का कार्य करता रहे। कारण, जो ज्ञान किसी ज्ञेय विशेष के प्रति आकर्षित हो जावेगा तो वह ज्ञान उसही में सीमित रहते हुये परिणमेगा। लेकिन जो ज्ञान किसी ज्ञेय से निरपेक्ष रहेगा, उसके ज्ञान की विशालता कुंठित क्यों होगी? वह तो एक साथ ही अनन्त ज्ञेय होंगे तो भी उन सबको एक साथ जान लेगा। जैसे कोई एक बालक अपनी माता के साथ कोई मेला देखने जाता है और वहाँ वह अपनी माता से बिछुड़ जाता है। मेले में बिछुड़ जाने के बाद वह किसी में अटके बिना अपनी माता को ढूढता है और माता भी अपने उस पुत्र को ढूंढती फिरती है, लेकिन जब वे दोनों मिल जाते हैं तब उनसे पूछिये कि उनने उस मेले में क्या-क्या देखा? मेले में सब कुछ देखने में आने पर भी उन दोनों का ज्ञान मात्र अपनी माता एवं पुत्र में ही सीमित था; अतः उन दोनों ने सब कुछ देखते हुये भी कुछ भी नहीं देखा। फिर दोनों का मिलाप हो जाने के बाद, वे मेला देखते हैं तो मेले की हरएक विशेषता को उनका ज्ञान जान लेता है। यह तो स्थूल दृष्टान्त मात्र हैं। इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान जब भी ज्ञेय-निरपेक्ष रहकर परिणमन करेगा तो वह ज्ञान किसको नहीं जानेगा? अमर्यादितरूप से सबको ही जानेगा। इसका प्रमाण है भगवान अरहंत का आत्मा। लेकिन अगर वह ज्ञान किसी भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञेय विशेष के प्रति आकर्षित होगा तो वह ज्ञान उस ज्ञेय में ही मर्यादित होकर अपने स्वभाव को कुंठित कर देगा। यही रहस्य है भगवान अरहंत के ज्ञान की सर्वज्ञता का।

अज्ञानी का ज्ञान तो ज्ञेय विशेष के प्रति आकर्षित होने से, ज्ञेय निरपेक्ष नहीं परिणमता, फलतः ज्ञान का कार्य कुंठित अर्थात् सीमित होकर परिणमता है।

तात्पर्य यह है कि मोह का अभाव होने पर ज्ञेयमात्र के प्रति निरपेक्षता हो जाती है तो आत्मा का ज्ञान भी असीमित हो जाता है, अमर्यादित हो जाता है।

पर्याय को जाने बिना पदार्थ का ज्ञान संभव कैसे होगा?

प्रश्न — आत्मा ने पदार्थ को जाना अथवा पर्याय को जाना, इसका इतना बड़ा दण्ड क्यों होना चाहिये? पर्याय भी द्रव्य का अंश ही तो है और पदार्थ में अन्तर्गर्भित होती है। अतः पर्याय को जाने बिना पदार्थ कैसे जाना जा सकेगा?

उत्तर — महत्वपूर्ण बात यह है कि ज्ञेयरूपी पदार्थ में एक ही समय, एक ही साथ दो पक्ष निरन्तर विद्यमान रहते हैं। एक पक्ष तो नित्य स्थाई ध्रुव द्रव्यपक्ष है, दूसरा अनित्य, अस्थाई, अध्रुव, हर समय पलटता हुआ पर्याय पक्ष हैं दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभावी हैं। दूसरी ओर क्षायोपशमिकज्ञान की अर्थात् छद्मस्थज्ञान की भी ऐसी निर्बलता है कि वह परस्पर विरोधी दोनों पक्षों को एकसाथ उपयोगात्मक जान नहीं सकता। वह जब द्रव्य पक्ष को जानेगा तो पर्याय पक्ष रह जावेगा और जब पर्याय पक्ष को जानेगा तो द्रव्य पक्ष रह जावेगा। निष्कर्ष यह है कि छद्मस्थ आत्मा एक समय में एक ही पक्ष को उपयोगात्मक जान सकेगा। अतः आत्मा को ही यह चुनना होगा कि वो दोनों में से किसको जानने से मेरा प्रयोजन सिद्ध होगा। अतः इसका यथार्थ निर्णय करना अत्यन्त उपयोगी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजन तो प्राणीमात्र का सुख प्राप्त करने का होता है लेकिन अज्ञानी ने पर (परज्ञेयों) में एकत्वबुद्धि पूर्वक सुख माना है। इसलिये उसका ज्ञान भी अनादि से परलक्ष्यी ही बना है। द्रव्यदृष्टि के अभाव में मात्र पर्यायों को ही ज्ञेय बनाता हुआ पर्यायमूढ़ ही बना रहता है, उसको द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाने से वह अपना भी अस्तित्व द्रव्य (ध्रुव) रूप ही मानता है और उसके साथ वर्तनेवाला ज्ञान भी द्रव्यार्थिकनय के द्वारा अपने को जानता है, यह ज्ञान की स्वाभाविक प्रक्रिया है। ऐसे ज्ञानी के ज्ञान में परज्ञेय ज्ञात होते हैं तो वे भी द्रव्यदृष्टिपूर्वक वर्तने वाले ज्ञान में तो द्रव्य ही (गुण-पर्यायों का अभेद पदार्थ) ही ज्ञात होता है। पदार्थ में गुणभेद-पर्यायभेद सब गौण रहते हैंद्व फलतः ज्ञेयों में असमानता की दृष्टि का अभाव होने से मोह उत्पन्न नहीं होता। आचार्यश्री ने प्रवचनसार की गाथा ९३ व ९४ के माध्यम से इस ही प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है कि पदार्थ अर्थात् द्रव्य को ज्ञेय बनाने वाला स्वसमय है एवं मात्र पर्याय को ज्ञेय बनाने वाला परसमय है। परसमय ही मिथ्यादृष्टि है। अतः स्वसमय बनने के लिये हमको द्रव्य की दृष्टि ही प्रगट करनी पड़ेगी आचार्यश्री ने भी श्लोक ६ में यही कहा है कि पदार्थ को (पर्याय को नहीं) ज्ञेय बनाने वाले को ही मोह (मिथ्यात्व) क्षय को प्राप्त होता है।

पर्यायरहित द्रव्य ज्ञेय कैसे बनेगा?

प्रश्न — पदार्थ (द्रव्य) को विषय बनाने वाले को भी पर्याय तो ज्ञेय बनेगी ही, पर्यायरहित द्रव्य ज्ञेय कैसे बनेगा? हमको तो ज्ञेय के रूप में पर्याय ही दृष्टि में आती है द्रव्य तो ज्ञान में आता ही नहीं। अतः द्रव्य को (पदार्थ को) ज्ञेय कैसे बनाया जावे?

उत्तर — उपरोक्त प्रश्न ही इस बात का द्योतक है कि ज्ञानक्रिया का वास्तविक स्वरूप ही समझ में नहीं आया। बल्कि जिसमें अपनापन होता है, ज्ञान उस ओर गये बिना रहता ही नहीं है। वास्तव में ज्ञेय बनाने से नहीं बनते आत्मा तो द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेद अखण्ड पिण्ड है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ःव्य ही हर समय ध्रुव रहते हुये पलटता भी रहता है। अतः ज्ञेय तो सम्पूर्ण ादार्थ ही है; लेकिन पदार्थ में नित्य पक्ष एवं अनित्य पक्ष परस्पर विरोधी ोते हुये भी एक ही समय द्रव्य में वर्तते रहते हैं। दूसरी ओर छद्मस्थ नीव के ज्ञान की ऐसी निर्बलता है कि दोनों पक्षों को एक साथ जान नहीं नकता अर्थात् एक ही समय एक साथ नहीं जान सकता अतः प्रश्न ऐसा ोना चाहिये कि ज्ञान दोनों में से किसको जाने? इसका नियामक कौन ै? उत्तर स्पष्ट है कि इसके लिये किसी नियामक की आवश्यकता नहीं ोती, यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और यह हम सबके अनुभव से सेद्ध है कि जिस किसी को अपना मान रखा है सहजरूप से ज्ञान उस ओर ही केन्द्रित हुये बिना रहता ही नहीं है। जैसे किसी शोभा यात्रा में १००० व्यक्ति हों, उनमें अपना परिचित व्यक्ति हो तो हमारा ज्ञान उसकी ओर ही आकर्षित हुये बिना रहेगा नहीं, इसीप्रकार जिसका द्रव्य (ध्रुव) में अपनापन नहीं होगा तो सहज रूप से ज्ञान उस ओर ही आकर्षित रहेगा और अज्ञानी की अनादि से पर और पर्यायों में अपनापन माना हुआ हे अतः उसका ज्ञान सहज रूप से बिना प्रयास के उनकी ओर आकर्षित रहता है। इसप्रकार ज्ञेय बनाने से नहीं बनाया जा सकता, वरन् जिसमें अपनापन होगा, वह सहज रूप से ज्ञेय बने बिना रहेगा नहीं। ज्ञानी के ज्ञान में दूसरा पक्ष गौण रूप से ज्ञान में वर्तता रहता है। अज्ञानी को तो अकेली पर्याय में ही अपनापन होने से तथा ध्रुव का तो कभी परिचय ही नहीं होने से, ज्ञान में दूसरे पक्ष का अभाव ही वर्तता है।

ज्ञानी को तो ध्रुव का अनुभवपूर्वक परिचय हुआ है। अतः उसकी तो दोनों चक्षुयें खुली रहतीं हैं। इसलिये द्रव्य के ज्ञान के समय पर्यायें ज्ञान में गौण रूप से वर्तती रहतीं हैं। ज्ञानी का रुचि के बल से, स्व की ओर उपयोग की एकाग्रता बढ़ती जाती है और पर और पर्याय की ओर की एकाग्रता घटती जाती है और बढ़ते स्व में पूर्ण तन्मय होकर स्वयं परमात्मा बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष यह है कि ज्ञेय बनाना नहीं पड़ता तथा बनाने से बनता भी नहीं, जिसमें अपनापन होता है, सहजरूप से ही ज्ञेय बन जाता है।

अज्ञानी को पर्याय की दृष्टि से द्रव्य को देखते समय, सम्पूर्ण द्रव्य ही पर्याय जैसा अनित्य एवं विकारी दिखने लगता है, जबकि वास्तव में रागादि का तो द्रव्य में प्रवेश ही नहीं है। द्रव्य तो त्रिकाली वस्तु है और पर्याय तो मात्र एक समय की मर्यादा वाली अनित्य है, वह कैसे द्रव्य में समावेश हो सकेगी ? उस विकारी पर्याय का आत्मा में न तो भूतकाल में अस्तित्व था और न भविष्यकाल में भी रहेगा, मात्र एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय में ही, पर के क्षणिक संयोगपूर्वक उत्पन्न होती है और नष्ट भी हो जाती है। अतः वह तो संयोगाधीन होने से संयोगी एवं पराधीन भाव है, उसका जीवन भी एक समय मात्र का ही है।

द्रव्यदृष्टिवंत का विषय अभेदपदार्थ एवं पर्यायदृष्टिवंत का विषय पर्याय होता है

सम्यक्नय तो ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) को ही प्रगट होती है। सम्यग्ज्ञान जब ज्ञेय को जानता है। तब मुख्य गौण व्यवस्थापूर्वक ही जानता है। इसीलिये द्रव्यार्थिकनय को मुख्य रखकर ज्ञानी द्रव्य को जानता है, उसीसमय उसको जाननक्रिया में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत पर्याय गौण रहती है। ज्ञानी को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयों का सद्भाव वर्तता है तथा मुख्य गौण व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण पदार्थ को जानता है। इसप्रकार जानते हुये भी अहंपना (अपनापन) तो मात्र द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ध्रुव अर्थात् नित्यपक्ष में ही रहता है। इस ही को द्रव्यदृष्टि कहा गया है। दृष्टि श्रद्धागुण की पर्याय है और नय ज्ञानगुण की पर्याय है। इसप्रकार ज्ञानी को सम्यक्नय के सद्भाव के साथ-साथ द्रव्यदृष्टि निरन्तर वर्तती रहती है, पर्यायदृष्टि नहीं होती; फिर भी पर्यायार्थिकनय के विषय का ज्ञान तो निरन्तर वर्तता ही रहता है।

मिथ्यादृष्टि को तो सम्यक्नय का जन्म ही नहीं हुआ है। अतः उसका ज्ञान नयरहित मिथ्याज्ञान है उसको तो मात्र पर्याय ही ज्ञेय बनती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, द्रव्य का तो उसको परिचय ही नहीं है। अतः मुख्य गौण व्यवस्था का तो प्रश्न ही नहीं होता। अतः वह द्रव्य को भी उस पर्याय जैसा ही एवं पर्याय जितना ही मानकर उसमें ही अहंपना (मेरापना) स्थापन कर लेता है। इसीलिये वह पर्यायमूढ़ बना रहता है। उसी को मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं।

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनय का कार्य बतलाने वाली प्रवचनसार की गाथा ११४ का अर्थ इसप्रकार है —

अर्थ — "द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य हैं; और पर्यायार्थिकनय से वह द्रव्य अन्य-अन्य हैं, क्योंकि उस समय तन्मय होने से द्रव्य पर्यायों से अनन्य है।

टीका — वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जानने वाली दो आँखें हैं — (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।"

उपरोक्त गाथा की टीका के भाव को संक्षेप में बताने वाला भावार्थ इसप्रकार है —

भावार्थ — "प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य वह का वही रहता है और बदलता भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक होने से द्रव्य के अनन्यत्व के विरोध नहीं है। जैसे — मरीचि और भगवान महावीर का जीव सामान्य की अपेक्षा अनन्यत्व और जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व होने में किसीप्रकार का विरोध नहीं है।

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य सामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिये द्रव्य अनन्य अर्थात् वह का वही भासित होता है और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी चक्षु से देखने पर द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं इसलिये द्रव्य अन्य-अन्य भासित होते हैं।"

यही कारण है कि द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु के ज्ञान से मोहांकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इसका प्रमाण है कि भगवान अरहंत को

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

लोकालोक के समस्त पदार्थों का ज्ञान वर्तते हुये भी वे किंचित्मात्र भी मोह उत्पन्न नहीं कर सकते।

अज्ञानी की मान्यतानुसार पर्याय जैसा तो द्रव्य है नहीं। पर्याय तो मात्र एक समयवर्ती पराधीन संयोगी पर्याय का वह रूप तो संयोग के अधीन होने से, संयोग के अस्तित्व को ही प्रकाशित करता है, आत्मा का तो परिचय किंचित्मात्र भी नहीं देता। अतः उसके माध्यम से तो द्रव्य का परिचय हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि वह पर्याय तो हरक्षण अपना रूप बदलती रहती है। जब संयोग भी एकरूप नहीं रह सकते तो पर्याय भी एकरूप कैसे रह सकेगी। फलतः उसको जाननेवाला ज्ञान भी निरन्तर आकुलित ही रहेगा-दुःखी रहेगा। सारांश यह है कि अज्ञानी का ज्ञान निरन्तर राग का अर्थात् मोह का ही उत्पादन करता रहेगा। इसीलिये ऐसे अज्ञानी को पर्यायमूढ कहकर अपनी भूल सुधारने के लिये आचार्यश्री ने प्रोत्साहित किया है।

स्वज्ञेय को कैसे जाना जावे?

उपरोक्त पद्धति मुख्यतः स्वज्ञेय को जानने की ही है। आत्मा में भी प्रमेयत्वगुण विद्यमान है अतः वह भी तो ज्ञेय है। अतः आत्मा को भी इस ही पद्धति से जाना जावेगा? अन्य कोई पद्धति हो भी कैसे सकती है। यथार्थतः तो उपरोक्त पद्धति से जानना ही आत्मा के लिये कल्याणकारी है।

ज्ञेयतत्त्व की पर्याय तो हरसमय अपना रूप बदलती रहती है अतः अज्ञानी आत्मा किसी पर्याय को अपने लिये इष्ट मानकर उसको रोकने का प्रयास करता है तथा किसी को अनिष्ट मानकर हटाने का प्रयास करता है लेकिन इसके प्रयास से न तो वे पर्यायें रुकती ही हैं और न हटती हीं हैं। लेकिन यह निरन्तर आकुलित रहता हुआ अपनी जीवनलीला समाप्त कर देता है।

अतः उपरोक्त कथन मुख्यता से तो अज्ञानी को ज्ञानी बनाने के लिये ही है। अज्ञानी को उपरोक्त स्थिति समझ में आ जावे तो अनादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से चली आ रही मिथ्या मान्यता को, यथार्थता में परिवर्तित करने का उत्साह जागृत होवे ओर यथार्थ मार्ग अपनाकर, अपनी भूल का विसर्जन कर, मोक्षमार्ग की ओर बढ़ सके।

आत्मा स्व को ही जानता है लेकिन मानता नहीं है

यथार्थतः तो आत्मा परज्ञेयों को जानता ही नहीं है, कारण वे ज्ञेय तो ज्ञान तक आते नहीं और जानने वाला भी उन ज्ञेयों तक जाता नहीं; उन तक पहुँचे बिना ज्ञान कैसे जान सकेगा? लेकिन ऐसा होने पर भी ज्ञेयों की जानकारी तो ज्ञान में होती ही है यह तो अनुभव में आता है। अतः ऐसा प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि ज्ञान दूरवर्ती ज्ञेय में पहुँचे बिना भी उसको कैसे जान लेता है? इस प्रश्न का सांगोपांग समाधान प्रवचनसार गाथा २८ से ३१ की टीकाओं में स्पष्ट किया है, अतः आत्मार्थी बन्धुओं को उनका अध्ययन करना चाहिये। संक्षेप में गाथा २९ की टीका का निम्न अंश मननीय है —

टीका — "जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्यों को स्वप्रदेशों के द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा ज्ञेयाकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता (ज्ञेय विषयों को स्पर्श करके भी जान सकना) कि विचारगोचरता से दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्व-प्रदेशों से अस्पर्श करता है, इसलिये अप्रविष्ट रहकर जानता-देखता है) तथा शक्ति-वैचित्र्य के कारण वस्तु में वर्तते समय ज्ञेयाकारों को मानों मूल में से उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है। इसप्रकार इस विचित्र शक्ति वाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्ध होता है।"

यथार्थतः न तो ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट करता है और न ज्ञान ही ज्ञेय में प्रविष्ट होता है। फिर भी आत्मा की ऐसी महान शक्ति है कि अपनी एक समय की ज्ञानपर्याय, समस्त लोकालोक को जान सकती है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जान भी लेती है, चक्षु के दृष्टान्त के अनुसार, जिसप्रकार चक्षु अग्नि देखने से गरम नहीं होती तथा बरफ को देखने से ठण्डी नहीं होती इसीप्रकार घोड़े को देखने पर घोड़े के आकार चक्षु नहीं हो जातीं, फिर भी सबको जानती तो है। ऐसी ही स्थिति चक्षु की शक्ति विचित्रता की महिमा को प्रकाशित करती है। यह ही स्थिति ज्ञान की है।

प्रश्न — ज्ञेय का सन्निकर्ष हुए बिना जानना कैसे हो सकेगा?

उत्तर — जिसप्रकार चक्षु को ज्ञेय के सन्निकर्ष हुए बिना भी ज्ञेय की जानकारी हो जाती है, उसीप्रकार ज्ञान को भी होती है। गंभीरता से विचार करें तो चक्षु की ऐसी कोई आश्चर्यकारी सामर्थ्य है कि उस आँख की पुतली (काली टीकी के लैंस) के परमाणु उस उपस्थित ज्ञेय के आकार परिणम जाते हैं, वास्तव में उन ज्ञेयाकार परिणत अपनी चक्षु को ही (जिसमें ज्ञेयवस्तु का अंशमात्र भी पहुँचा नहीं है) वह चक्षु जानती है, वस्तु को नहीं। हमारे अनुभव में भी है कि चक्षु की काली टीकी पर मोतियाबिन्दु आ जाता है तो ज्ञेय सामने होते हुये भी उसका प्रतिबिम्ब काली टीकी पर नहीं पड़ता अतः उस ज्ञेय का देखना चक्षु को नहीं होता। ज्ञेय का परिचय कराने के लिये ऐसा कहा जाता है कि अमुक आँख ने अमुक ज्ञेय को जाना। वास्तव में ऐसा कहना उपचार कथन है। लेकिन ऐसा उपचार किये बिना लोकव्यवहार चल नहीं सकता। इसलिये वास्तविकता का ज्ञान रहते हुये भी ऐसा उपचार करना योग्य ही है। उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार ज्ञान का भी ऐसा ही स्वभाव समझना चाहिये।

आत्मा का ज्ञान भी, गरम को जानने से गरम, ठण्डे को जानने से ठण्डा, इसीप्रकार क्रोध को जानने से क्रोधी, मान को जानने से मानी इत्यादि रूप नहीं हो जाता। इसीप्रकार पर्वत को जानने से पर्वत आदि के आकार नहीं हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ज्ञेयों को जानते समय उनसे तन्मय नहीं होता, सन्निकर्ष करे बिना भी निरपेक्षपने जानने की क्रिया करता है; यह ज्ञान के निरपेक्ष स्वतंत्र स्वभाव का एवं ज्ञान की आश्चर्यकारी शक्ति का परिचायक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न – ज्ञान ज्ञेय में तन्मय हुये बिना कैसे जान लेता है?

उत्तर – ज्ञान आत्मा का एक असाधारण गुण है। आत्मद्रव्य "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तंसत्" है उसके गुण भी ध्रुव ही रहते हैं। अतः ज्ञानगुण भी ध्रुव रहकर अपनी पर्याय बदलता (उत्पाद-व्यय करता) ही रहता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है अतः हरसमय दोनों को जानता है। स्वभाव, स्वभाव वान् से अलग नहीं हो सकता। अतः जब भी ज्ञान का उत्पाद होता है वह स्व एवं पर को प्रकाशित करता हुआ ही उत्पन्न होता है। अतः हरसमय वह अपने स्वभावसामर्थ्य से स्व एवं परज्ञेयों को जाने बिना रह ही नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि ज्ञान अपने स्वभावसामर्थ्य से ही जानता है, न कि ज्ञेय की कृपा से जानने के लिये कोई ज्ञेयकृत पराधीनता नहीं है।

प्रश्न – अगर ऐसा है तो अमुक समय अमुक ज्ञेय को ही ज्ञान क्यों जानता है? तथा ज्ञान के सामने ज्ञेय नहीं होने पर भी क्यों नहीं जान लेता?

उत्तर – क्षयोपशम ज्ञान में हरसमय ज्ञान के सामने ज्ञेय तो अनेक होते हैं लेकिन पर्याय में उन सबमें से जिस ज्ञेय को जानने की तत्समय की योग्यता होती है, उस समय उस ही ज्ञेय का ज्ञान होता है, बाकी अन्य ज्ञेय सामने उपस्थित होते हुये भी ज्ञात नहीं होते। यह भी अनुभवसिद्ध है कि कभी-कभी ज्ञान के समक्ष ज्ञेय उपस्थित नहीं होते हुये भी यह जीव, अपनी कल्पना में ज्ञेय बना लेता है। इसप्रकार ज्ञान अपनी पर्यायगत् योग्यता के अभाव में ज्ञेयों के उपस्थित रहने पर भी, उनका ज्ञान नहीं कर पाता।

उपरोक्त समस्त चर्चा का सार यह है कि छद्मस्थ ज्ञान का स्वभाव तो स्वपर-प्रकाशक है। वह ज्ञान हर समय अपनी शक्ति-सामर्थ्य सहित उत्पन्न होता है तथा तत्समय की योग्यता के अनुसार ज्ञेयों को जानता है अर्थात् ज्ञान में प्रगट हुये ज्ञेयों संबंधी ज्ञानाकारों का स्वयं ही ज्ञान करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। इसप्रकार यथार्थतः ज्ञान, अपनी ही स्व-परप्रकाशक योग्यता के प्रकाशन का ही ज्ञाता है। लेकिन फिर भी उनका परिचय कराने के लिये व्यवहार का यह कथन भी सत्यार्थ है कि आत्मा ने अमुक ज्ञेय का ज्ञान किया इत्यादि। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक आत्मा को निश्चय से स्व का एवं व्यवहार से परज्ञेयों का ज्ञायक स्वीकार करना चाहिये।

प्रश्न — उपरोक्त समस्त कथन के समझने से आत्मा को क्या लाभ होगा?

उत्तर — आत्मा को स्वभाव के प्रति उत्कृष्ट महिमापूर्वक, ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि प्रगट हो जाती है।

प्रश्न — वह कैसे ?

समाधान — आत्मा जगत के छह द्रव्यों से भिन्न स्वतंत्र एक द्रव्य है। वह अपने सामर्थ्यों का उत्पाद-व्यय करता हुआ ध्रुव नित्य बना रहता है। उसके उत्पाद-व्यय में किसी का हस्तक्षेप अथवा सहायता हो ही नहीं सकती। ज्ञान का स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक है, अतः यह अपनी शक्ति सामर्थ्य से पर को भी जाने बिना रह ही नहीं सकता। अगर आत्मा में एक ज्ञानगुण नहीं माना जावे तो उसमें ज्ञान का अभाव हो जावेगा तो वह भी जड़-पुद्गल के समान अचेतन द्रव्य हो जावेगा। लेकिन ऐसा होना तो असंभव है। फलतः आत्मा स्व-पर को जाने बिना रह ही नहीं सकता। प्रवचनसार की गाथा १५५ की टीका में इसप्रकार कहा है —

"वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्य अनुविधायी (चैतन्य को अनुसरण करके होने वाला) परिणाम है और वह उपयोग, ज्ञान तथा दर्शन है।"

इसप्रकार अपनी स्व-पर प्रकाशक शक्ति से आत्मा में पर संबंधी ज्ञानाकारों को अपनी शक्ति के द्वारा स्वयं ही जान लेता है। इसपकार

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

सिद्ध होता है कि वास्तव में आत्मा पर को तो नहीं जानता वरन् परज्ञेय के आकाररूप परिणत अपने ही ज्ञानाकारों को जानता है। इसप्रकार आत्मा ही ज्ञाता है, आत्मा ही ज्ञान है और आत्मा ही ज्ञेय है। तीनों की अभेद परिणति ही निश्चय है। इस स्थिति को समझते हुये भी, ज्ञेयों के माध्यम से अपने ही ज्ञानाकारों का, परिचय कराने के लिये आत्मा ने अमुक ज्ञेय का ज्ञान किया — ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। इसप्रकार यह कथन भी व्यवहार अपेक्षा सत्य है।

इसप्रकार की यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न होने से ज्ञान में परसंबंधी ज्ञेयाकार ज्ञात होने पर भी, उनसे मेरा कुछ भी संबंध नहीं है, ये सब तो मेरे ज्ञान की ही कल्लोलें है। ऐसा श्रद्धा-ज्ञान जागृत हो जाता है। इसप्रकार मेरा पन मेरे में ही स्थापन हो जाने से पर के साथ मेरा कोई प्रकार का संबंध सिद्ध नहीं होता। "नास्तिसर्वोपि सम्बन्धः" सूत्र के अनुसार तो ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी नहीं रहता, तब अन्य संबंध की तो क्या कल्पना की जावे? इसप्रकार यथार्थतः ज्ञाता भी मैं, ज्ञेय भी मैं और ज्ञान भी मैं ही हूँ। इसप्रकार इन्द्रियों का माध्यम छोड़कर ज्ञान सीधा आत्मा से ही कार्य करने लगता है, अतः ऐसा ज्ञान अतीन्द्रिय कहा जाता है। ऐसा ज्ञान जहाज पर बैठे पक्षी की भांति निराश्रय होकर मात्र एक स्वद्रव्य का ही आश्रय कर अभेद होने का प्रयास करता है। ऐसी दशा में परज्ञेय तो अत्यन्त उपेक्षित रह जाते हैं एवं अपनी जाननक्रिया स्व को जानने के लिये ही चेष्ठित रहती है और ज्ञान-ज्ञेय- ज्ञाता तीनों अभेद हो जाने पर निर्मल अनुभूति प्रगट होकर, वीतरागता का उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है। तथा भवभ्रमण का अंत आ जाता है। इसप्रकार अनादिकाल से चली आ रही मोहग्रन्थि टूट जाती है। इसही का समर्थन प्रवचनसार गाथा १९५ की टीका में भी किया है।

"मोहग्रन्थि का क्षय करने से, मोहग्रन्थि जिसका मूल है ऐसे राग-द्वेष का क्षय होता है। उससे सुख-दुःख समान हैं, ऐसे जीव को परम मध्यस्थता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका लक्षण है ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षयसुख की प्राप्ति होती है।"

"इससे (ऐसा कहा है कि) मोहरूपी ग्रन्थि के छेदने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है।"

उपरोक्त स्थिति स्पष्ट होते हुये भी अज्ञानी आत्मा, इस स्थिति को मानता नहीं, स्वीकारता नहीं, श्रद्धा नहीं करता; वरन् इसके विपरीत पर के साथ प्रीति करता है फलतः पर की ओर ही एकाग्र बना रहता है। अतः ज्ञान परलक्ष्यी ही रहता है। ऐसा अज्ञानी कभी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

परलक्ष्यी ज्ञान, ज्ञेय के साथ सम्बन्ध क्यों जोड़ता है?

प्राणीमात्र सुख चाहता है,अज्ञानी परज्ञेयों में अपनेपन की श्रद्धा सहित सुख मानता है, इसलिये उसको पर के साथ मैत्री वर्तती है। अतः पर में सुख प्राप्त करने के लिये परमुखापेक्षी ही बना रहता है। उसकी श्रद्धा इसप्रकार की होने से ज्ञान भी परलक्ष्यी उत्पन्न होता रहता है। आचरण अर्थात् चारित्र भी, उनमें ही तन्मय होने की चेष्टा करता है। वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी विपरीत हो जाता लेकिन पर में सुख नहीं होने से असफल होता है। फलतः आकुलता ही प्राप्त होती रहती है, ऐसी आकुलता का वेदन करता हुआ अपना जीवन निष्फल खो देता है। उनही ज्ञेयों में किसी को अच्छा मानकर राग करता रहता है, किसी को बुरा-अहितकर मानकर द्वेष करता रहता है। इसप्रकार विपरीत श्रद्धापूर्वक परलक्ष्यी ज्ञान मात्र मोह रागादि का उत्पादक बना रहता है। निराकुल नहीं हो सकता।

परलक्ष्यी ज्ञान से, आत्मदर्शन असंभव क्यों?

परलक्ष्यीज्ञान, मात्र मन और इन्द्रियों के माध्यम से ही कार्यशील होता है। ज्ञान, जब अपने को जानेगा तो उसमें अन्य की पराधीनता का अवकाश ही नहीं रहता। ऐसा ज्ञान अत्यन्त स्वाधीनतापूर्वक वर्तता है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से प्रवर्तने वाला ज्ञान तो मात्र मूर्तिक पदार्थों को ही जान सकता है, उसमें अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान करने की क्षमता ही नहीं है। ज्ञान के स्वलक्ष्यपूर्वक वर्तन में एवं परलक्ष्यपूर्वक वर्तन में अत्यन्त स्वरूपविपरीतता है। अतः स्वलक्ष्यपूर्वक प्राप्त होने वाली उपलब्धि, परलक्ष्य से कैसे प्राप्त हो सकेगी है? असंभव है। अतः स्वलक्ष्यी ज्ञान से प्राप्त होने वाली दशा अत्यन्त निराकुल आनन्ददायिनी होती है।

इन्द्रियज्ञान हेय क्यों?

इन्द्रियज्ञान परलक्ष्यी ज्ञान है, वह आत्मा को कैसे प्राप्त करावेगा? नहीं करा सकेगा। इसकारण ही इन्द्रियज्ञान हेय है। अज्ञानी का इन्द्रियज्ञान जिन पदार्थों को जानता है उनको इष्ट अथवा अनिष्ट मानते हुये जानता है। अतः राग अथवा द्वेष करते हुये ही जानने की क्रिया करता है। फलतः आकुलित रहता है। इसप्रकार मात्र आकुलता का उत्पादक होने से इन्द्रियज्ञान हेय है। जिनवाणी में इन्द्रियज्ञान को हेय कहकर, उसके प्रति उपादेयबुद्धि छुड़ाई है एवं यह सिद्ध किया है कि इन्द्रियज्ञान आत्मोपलब्धि के लिये विघ्नरूप होता है। इसही का समर्थन प्रवचनसार की गाथा ६३ में निम्नप्रकार किया है —

टीका — "प्रत्यक्षज्ञान के अभाव के कारण परोक्षज्ञान का आश्रय लेने वाले इन प्राणियों को उसकी (परोक्षज्ञान की) सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति निजरस से ही (स्वभाव से ही) मैत्री प्रवर्तती है। अब इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्नि ने ग्रास बना लिया है, इसलिये तप्त लोहे के गोले की भांति (जैसे गरम किया हुआ लोहे का गोला पानी को शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुःख के वेग को सहन न कर सकने से उन्हें व्याधि के प्रतिकार के समान (रोग से थोड़ा सा आराम जैसा अनुभव कराने वाले उपचार के समान) रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है। इसलिये इन्द्रियाँ व्याधि के समान होने से और विषय व्याधि के प्रतिकार समान होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियज्ञान को स्वलक्ष्यी कैसे किया जावे ?

ज्ञान तो स्व हो अथवा पर सबको स्वमुखापेक्षी होकर ही जानता है। पर का ज्ञान भी अपने में ही होता है। पर का ज्ञान करने के लिये, ज्ञान पर तक पहुँचता भी नहीं, वरन् जानने के स्वभाव से, अपनी ही योग्यतानुसार अपने में रहते हुये ही हो जाता है। प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति होने पर भी ज्ञान परलक्ष्यी क्यों हो जाता है? समाधान स्पष्ट है कि प्राणीमात्र को सुख चाहिये और आत्मा को जब तक यह श्रद्धा है कि मुझे सुख पर ही से मिलेगा तब तक वह परलक्ष्य छोड़कर स्व की और आवेगा ही क्यों ?

अत: जब आत्मा वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझकर अपनापन अपने में स्थापन कर ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कर लेगा कि मेरा सुख तो मेरे में ही है; मैं स्वयं सुख स्वरूप ही हूँ; सुख का लक्षण तो निराकुलता है, वह मेरा स्वभाव ही है; मेरे में ही है, मेरे में से ही आता है; पर में मेरा सुख है ही नहीं, अत: पर में से प्राप्त नहीं हो सकेगा। लेकिन मिथ्या मान्यता के कारण मेरा ज्ञान परलक्ष्यी बना हुआ है, ऐसी मान्यता होते ही ज्ञान स्वलक्ष्यी कार्य करने लगेगा। अज्ञानी पदार्थों से सुख प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों को उसका साधन मानता है, प्राप्त करने हेतु उनको निरन्तर सजग रखना चाहता है, उनको पुष्ट रखने के प्रयासों में निरन्तर संलग्न रहता है। इन्द्रिय सुख के साधनभूत स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद, रुपया-पैसा आदि संयोगों के जुटाने में ही अपना समस्त जीवन खो देता है। इन सभी कार्यों के द्वारा प्राप्त आकुलता को ही सुख मानकर, अपनी मिथ्या मान्यता का पोषण करता रहता है लेकिन इन्द्रियज्ञान के विषयभूत पदार्थों का मिलना तथा उनके भोगने की साधनभूत इन्द्रियों का पुष्ट रहना आदि कार्य इसकी इच्छानुसार होते भी नहीं हैं, वे सब तो पूर्वकृत पुण्य के उदयानुसार ही प्राप्त होते हैं, तथा पाप का उदय आने पर नष्ट होते हुये भी देखने में आते हैं। वास्तव में इस समस्त बीमारी की मूल जड़ तो उपरोक्त मिथ्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता है। यह मान्यता जबतक जीवित रहेगी, तबतक ज्ञान परलक्ष्यी ही बना रहेगा। उनरोक्त मान्यता विसर्जित होकर, यथार्थता समझ में आवेगी कि 'मुझे सुख का उत्पादन नहीं करना है बल्कि आकुलतारूपी दुःख का उत्पादन रोकना है' आदि-आदि विचारों द्वारा, यथार्थ निर्णय होकर, त्रिकाली ज्ञायक में मेरापना आकर ज्ञेयमात्र के प्रति परपना एवं उपेक्षाभाव प्रगट हो जावेगा तो ज्ञान स्वतः स्वलक्ष्यी होकर कार्यशील हों जावेगा। करना कुछ नहीं पड़ेगा। अतः प्राणीमात्र का प्रथम से प्रथम कर्तव्य अपनी मान्यता यथार्थ करना है।

इस विषय का संकेत आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार गाथा १४४ की टीका में और समयसार गाथा ३१ की टीका में भी किया है, जो इसी पुस्तक में अन्यत्र दी जा चुकी है।

उपरोक्त गाथाओं की टीका में "मन एवं इन्द्रियों को परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत" बताया है। इससे सिद्ध है कि मन एवं इन्द्रियों के द्वारा प्रवर्तन होनेवाला ज्ञान "आत्मा की प्रसिद्धि का कारण" नहीं हो सकता। मन और इन्द्रियों को मर्यादा में लाये बिना श्रुतज्ञान आत्म सन्मुख नहीं होगा तथा दोनों के आत्मसन्मुख हुए बिना आत्मानुभूति संभव नहीं है। ऐसा आचार्य महाराज का संकेत है। उपरोक्त वर्णित मन एवं इन्द्रियों को जीतकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करनेकी विधि आचार्यश्री ने गाथा ३१ की टीका में समझाई है।

समापन

इसप्रकार उपरोक्त प्रकरणों में वस्तुस्थिति की यथार्थ चर्चा के माध्यम से हमने ज्ञातृतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व के स्वरूप को समझा, तथा ज्ञातृतत्त्व का जानन स्वभाव होने से, ज्ञेयों का ज्ञान में ज्ञात होना अनिवार्य होते हुये भी, ज्ञानक्रिया ज्ञेयनिरपेक्ष कैसे रहती है, यह भी समझा। साथ ही यह भी समझा कि ज्ञानी का ज्ञेयनिरपेक्ष वर्तनेवाला ज्ञान राग का उत्पादक नहीं होता, वरन् ज्ञेयों के प्रति मध्यस्थ रहते हुये परिणमता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथार्थतः ज्ञान ज्ञेय के विभागीकरणपूर्वक ज्ञायकतत्त्व में अपनेपन की श्रद्धा उत्पन्न होने का ही यह फल है। प्रवचनसार गाथा १४५ की टीका में ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार प्रारम्भ करते हुये निम्नप्रकार कहा है —

टीका — "इसप्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है उसे वास्तव में, उसमें अंतःपाती होने पर भी, अचिन्त्य ऐसी स्वपर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही है और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है; इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।"

ज्ञानज्ञेय विभाग अधिकार एवं ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार को पूर्ण करते हुये गाथा २०० में आचार्यश्री निम्नप्रकार वर्णन कर इन अधिकारों का समापन करते हैं।

"प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ ही, सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिये मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है। अब एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्त्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेयज्ञायक लक्षण संबंध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्तशक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना — माना जाता है उस शुद्धात्मा को यह मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कंप रहता हुआ यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।"

उपरोक्त टीका के माध्यम से समापन करने के पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्रदेव श्लोक १० एवं ११ कहकर इस अधिकार के अन्त में निम्न आशीर्वाद प्रदान करते हुये समापन करते हैं —

अर्थ — "इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले जैन ज्ञान में — विशाल शब्दब्रह्म में सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराई में उतरकर, निमग्न होकर) हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्ति से (परिणति से) सदा युक्त रहते हैं ॥ १० ॥"

अर्थ — "आत्मा ब्रह्म को (परमात्मतत्त्व को, सिद्धत्व को) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्व को शीघ्रता से (एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकार के ज्ञेयों को ज्ञान में जानता हुआ) और स्वपरप्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ, प्रगट दैदीप्यमान होता है ॥ ११ ॥"

उपरोक्त प्रकार से ज्ञानतत्त्व एवं ज्ञेयतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझकर दोनों के यथार्थ श्रद्धान ज्ञानपूर्वक ज्ञेयतत्त्वों में भ्रमण करती हुई परिणति को समेटकर अपने ज्ञानतत्त्व में विलीन (अभेद) कर निश्चल होते हैं, वे परमानन्द दशा को प्राप्त होते हैं। इसप्रकार यह ज्ञान प्रधान निश्चय मोक्षमार्ग का कथन है। आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार चरणानुयोग चूलिका के मोक्षमार्ग प्रज्ञापन प्रकरण का समापन करते हुये गाथा २४२ की टीका में निम्नप्रकार कहा है —

टीका — "ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शनपर्याय है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है; ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टिज्ञातृतत्त्व में परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्रपर्याय है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त की गई समस्त चर्चा का केन्द्रबिन्दु मुख्यतः छहद्रव्यों के सामान्यविशेषात्मक स्वरूप अर्थात् गुणपर्यायों के स्वरूप को, स्व एवं पर के रूप में विभागीकरण करने के उद्देश्य से समझकर, उनको त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव ऐसे ज्ञातृतत्त्व के रूप में एवं शेष रहे समस्त को ज्ञेयतत्त्व के रूप में विभाग करके ज्ञातृतत्त्व को स्व के रूप में एवं ज्ञेयतत्त्व को पर के रूप में समझ कर मान लेना और ज्ञेय ज्ञात होने पर भी, इसप्रकार भासित हों कि आत्मसन्मुखता बनी रहे। फलतः ज्ञानज्ञेय के विभागीकरण द्वारा अपने ज्ञातृतत्त्व में अपनत्व स्थापन करके अपनी परिणति को पर से व्यावृत्तिपूर्वक, आत्मसन्मुख कर, मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी का अभाव कर आत्मानन्द का अनुभव कर लेना है।

उपरोक्त मार्ग समझने के लिये प्रवचनसार ग्रन्थ का बहुभाग आधार लिया गया है। उक्त ग्रन्थ में वर्णित ज्ञातृतत्त्व तो, मेरा ही त्रिकाली ध्रुव रहने वाला, परमपारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा ऐसा ज्ञायकभाव है; अन्य कोई नहीं। उसही में अपनापन स्थापन कर, अन्य ज्ञेयमात्र से अपनापन तोड़कर, परिणति को अपने ज्ञातृतत्त्व में एकत्व करना ही सम्पूर्ण कथन का सार है। उसमें एकत्व होते ही अनादिकालीन मिथ्यात्व के साथ-साथ अनन्तानुबन्धी का भी अभाव होता है। उसके फलस्वरूप परिणति अपने-आपमें ही विश्राम करने के लिये लालायित रहती है और प्रयत्न करती रहती है। फलतः संसार देह, भोगों के प्रति सहजरूप से उदासीनता (उपेक्षा) वर्तने लगती है और उसही के अनुरूप बाहर की क्रियायें भी सहजरूप से वैराग्यमय अर्थात् अन्यायमय वर्तन, अनीतिपूर्वक जीवन एवं अभक्ष्यरूप खानपान आदि भावों के उत्पन्न होने का सहज अभाव वर्तने लगता हैं यही कारण है कि उसका जीवन ज्ञान और वैराग्यमय वर्तता रहता है एवं आत्मानन्द का रसास्वादन बारम्बार प्राप्त करने का पुरुषार्थ निरन्तर सहज वर्तता रहता है और उत्तरोत्तर शुद्धि की वृद्धि कर चारित्रदशा को प्राप्त करते-करते पूर्णदशा प्राप्त कर लेता है।

सभी पाठकगण ऐसी दशा शीघ्र प्राप्त करें — इसी भावना के साथ इस पुस्तक का समापन करता हूँ। ***नेमीचन्द पाटनी***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

क्रमांक	पृष्ठ	ग्रन्थ का नाम	विषय
१.	९	समयसार	गाथा १४४ की टीका
२.	२१	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	तत्प्रतिप्रीतिचिंतेन
३.	२१	मोक्षमार्ग प्रकाशक	पृष्ठ २५७
४.	२२	श्रीमद् राजचन्द्र	कषाय की उपशांतता
५.	२३	परमात्मप्रकाश	गाथा नं. ८-९-१० प्रार्थना
६.	२५, २६	प्रवचनसार	द्रव्यश्रुत के अध्ययन की प्रेरणा गाथा ८६-९०-९२-२३७ गाथा २३२ से २३८-२४०-२६८
७.	२७	सुखी होने का उपाय	भाग २ पृष्ठ २२ से ४२
८.	२७	समयसार	गाथा ६९-७०
९.	३०	समयसार	गाथा ४९ एवं कलश ४२
१०.	३४	सर्वार्थसिद्धि	प्रथम अध्याय सूत्र २
११.	३८	तत्त्वार्थसूत्र	सूत्र १-२-३ अध्याय १
१२.	३९	सुखी होने का उपाय	भाग २ पृष्ठ ६८ से ८६
१३.	३९	तत्त्वार्थसूत्र	सूत्र-६, अध्याय-१
१४.	४३	सुखी होने का उपाय	भाग-२ पृष्ठ ९६ से एवं भाग-३ पृष्ठ ४८ से ६२ एवं ८८ से १०५
१५.	४५	प्रवचनसार	गाथा-८०
१६.	४६	सुखी होने का उपाय	भाग-३ पृष्ठ १७ से ४५ एवं १०८ से १३३
१७.	४८	समयसार कलश	कलश १३०-१३१
१८.	५१	समयसार	गाथा-४९
१९.	६२	समयसार	गाथा ३८-३१
२०.	६३	प्रवचनसार (जयसेन)	गाथा-२४२-३२
२१.	६९	समयसार	गाथा २०६तथा गाथा १४४ की टीका
२२.	७६	समयसार	कलश २३
२३.	७२	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	श्लोक १९ परमार्थ विंशति अधिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४.	७३	श्रीमद् राजचन्द्र	काम एक आत्मार्थ का तथा कषाय की उपशांतता
२५.	७३	समयसार	कलश १३६
२६.	७४	नाटक समयसार	सवैया ४१ निर्जरा द्वार
२७.	७५	छहढाला	ढाल तीसरी प्रथम छन्द
२८.	७६	सुखी होने का उपाय	भाग-१ का विषय प्रवेश
२९.	७८	प्रवचनसार	गाथा ७५ एवं ७६
३०.	८०	श्रीमद् राजचन्द्र	सुख प्राप्त करना, सुखहलै छै
३१.	८०	छहढाला	ढाल तीसरी प्रथम छन्द
३२.	८०	रत्नकरंड श्रावकाचार	श्लोक २
३३.	८२	समयसार	शक्ति नं. ९ ४ सुख शक्ति
३४.	८५	प्रवचनसार	गाथा ३१ एवं ६२
३५.	८८	प्रवचनसार	गाथा ८०-१९
३६.	९०	प्रवचनसार	गाथा ६८ एवं टीका
३७.	९२	समयसार	परिशिष्ट ४७ शक्ति की उत्थानिका
३८.	९२	प्रवचनसार	गाथा ३६ का भावार्थ, ४७ की टीका
३९.	९३,९४	प्रवचनसार	गाथा ३३ की टीका एवं भावार्थ
४०.	७२	प्रवचनसार	गाथा ३२ का भावार्थ
४१.	९६	प्रवचनसार	गाथा ४२ का भावार्थ
४२.	९७	प्रवचनसार	गाथा ३६ की टीका
४३.	९८	समयसार	गाथा २८ की टीका
४४.	१००	समयसार	गाथा ३४४ की टीका
४५.	१००	समयसार	कलश १६४ बंध अधिकार
४६.	१०१	समयसार	गाथा १७-१८ की टीका
४७.	१०२	समयसार	कलश १६५ बंध अधिकार
४८.	१०३	नियमसार	गाथा १७९ की टीका एवं श्लोक
४९.	१०३	प्रवचनसार	गाथा ३६ की टीका
५०.	१०५	समयसार	गाथा ३७३ से ३८२ की टीका
५१.	१०६	प्रवचनसार	गाथा २९ की टीका
५२.	१०७	प्रवचनसार	गाथा २६ की टीका
५३.	१०८	प्रवचनसार	गाथा २६ की टीका
५४.	१०९	प्रवचनसार	गाथा ३१ का भावार्थ
५५.	१११	समयसार	गाथा १७-१८ की टीका
५६.	११२	परीक्षामुख	पंचम परिच्छेद सूत्र-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५७.	११२	प्रवचनसार	गाथा ४२ का भावार्थ
५८.	११३	क्रमबद्धपर्याय (डॉ. भारिल्ल)	पृष्ठ ४९ क्रमबद्धपर्याय पुस्तक
५९.	११३	प्रमेयरत्नमाला	अ. २ सूत्र १२ की टीका
६०.	११४	परीक्षामुख	अध्याय २ सूत्र ९
६१.	११५	न्यायदीपिका	योग्यतैव विषय प्रतिनियम कारणमिति
६२.	११६	समयसार	कलश २००
६३.	११६	समयसार	कलश २२२
६४.	११७	प्रवचनसार	गाथा ४२ का भावार्थ
६५.	११८	समयसार परिशिष्ट	पृष्ठ ५८७ शक्ति का उपोद्घात
६६.	११९	प्रवचनसार	गाथा ४२
६७.	१२०	समयसार	गाथा ३७१ की टीका
६८.	१२०	समयसार	कलश २१८ एवं २२०
६९.	१२१	नाटक समयसार	आस्रव अधिकार छन्द २
७०.	१२२	समयसार	कर्ताकर्म अ. गाथा ६९-७० की टीका
७१.	१२४	प्रवचनसार	गाथा ४२
७२.	१२८	भजन पं. भागचन्दजी	अप्रमेय ज्ञेयनि के ज्ञायक
७३.	१२८	प्रवचनसार	गाथा ६० का भावार्थ एवं गाथा ९३ का अर्थ
७४.	१२९	नियमसार	श्लोक २८२ की टिप्पणी
७५.	१३०	प्रवचनसार	गाथा १५५ की टीका
७६.	१३२	प्रवचनसार	गाथा २४२ की टीका
७७.	१३२	प्रवचनसार	श्लोक ६ ज्ञान अधिकार का समापन
७८.	१३३	भजन पं. भागचन्दजी	अप्रमेय ज्ञेयनि के ज्ञायक
७९.	१३६	समयसार	गाथा ३६ का भावार्थ
८०.	१३७	समयसार	गाथा ३४४ की टीका
८१.	१३७	समयसार	गाथा २४१ की टीका
८२.	१३९	प्रवचनसार	श्लो. ५ ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन का समापन
८३.	१४०	प्रवचनसार	गाथा १५९ की टीका
८४.	१४३	श्रीमद् राजचन्द्रजी	अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आयेगा
८५.	१४४	प्रवचनसार	गाथा १४५ की टीका
८६.	१४५	समयसार	कलश २७१ का भावार्थ
८७.	१४५	प्रवचनसार	गाथा १२९ की उत्थानिका
८८.	१४८	प्रवचनसार	श्लोक ६
८९.	१४८	पण्डित दौलतरामजी	सकलज्ञेय ज्ञायक (स्तुति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९०.	१४९	प्रवचनसार	गाथा ८७ का भावार्थ
९१.	१४९	प्रवचनसार	गाथा ९३
९२.	१५१	प्रवचनसार	गाथा ९३ की टीका
९३.	१५१	प्रवचनसार	गाथा ११४ की टीका
९४.	१५१	प्रवचनसार	गाथा ९३ की टीका
९५.	१५३	प्रवचनसार	गाथा ९४ उत्थानिका एवं भावार्थ
९६.	१५६	पंचास्तिकाय	गाथा ६१ की टीका एवं ६२ की टीका का भावार्थ
९७.	१६१	समयसार	गाथा २-५-६ का सारांश
९८.	१६३	प्रवचनसार	गाथा १८९ की टीका
९९.	१६७	प्रवचनसार	गाथा ५५ की टीका
१००.	१७४	प्रवचनसार	गा. ११४ का अर्थ, टीका एवं भावार्थ
१०१.	१७६	प्रवचनसार	गा. २८ से ३१, गाथा २९ की टीका
१०२.	१७९	प्रवचनसार	गाथा १५५ की टीका
१०३.	१८०	प्रवचनसार	गाथा १९५ की टीका
१०४.	१८२	प्रवचनसार	गाथा ६३ की टीका
१०५.	१८४	समयसार	गाथा १४४ की टीका एवं गाथा ३१ की टीका
१०६.	१८५	प्रवचनसार	गाथा १४५ की टीका तथा गाथा
१०७.	१८५	प्रवचनसार	गाथा २०० की टीका
१०८.	१८६	प्रवचनसार	श्लोक १०-११ का अर्थ
१०९.	१८६	प्रवचनसार	गाथा २४२ की टीका

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

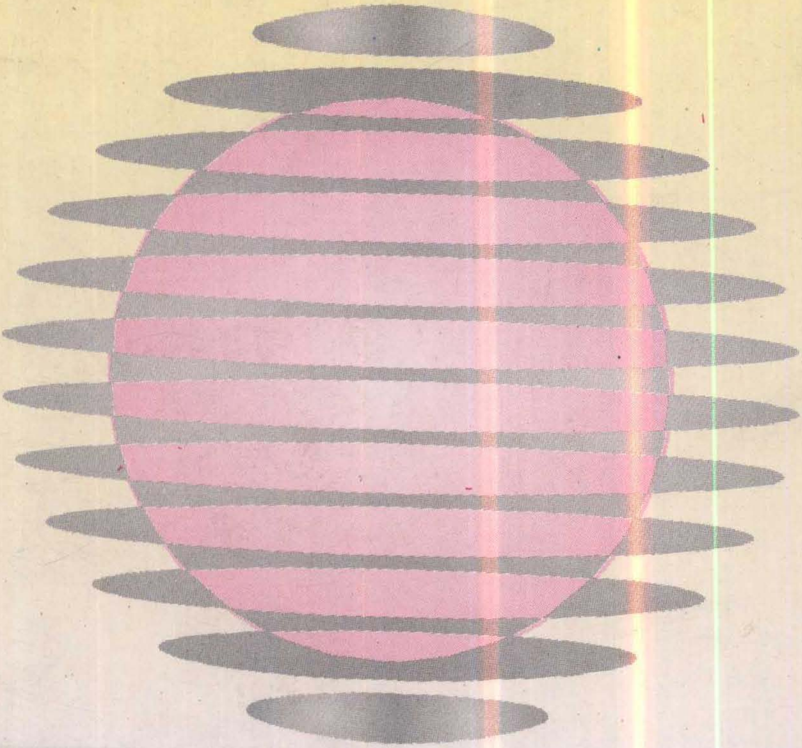

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org